राजनीति प्रवेशिका

हेरल्ड जे लास्की

राजनीति प्रवेशिका



हैरल्ड जे० लास्की

राजनीति प्रवेशिका

राजनीति प्रवेशिका

(An Introduction to Politics).

मूल लेखक

हैरल्ड जे० लास्की

अनुवादक

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

(प्रधान सम्पादक, दैनिक जागरण)

सेन्ट्रल बुकडिपो

इलाहाबाद

१९५०] [मूल्य २)

प्रकाशक
सेन्ट्रल बुक डिपो
इलाहाबाद

मुद्रक—
चुन्नीलाल
वैनगार्ड प्रेस,
इलाहाबाद।

अनुवादक के दो शब्द

राजनीति-शास्त्र के महान पण्डित हैरोल्ड जे० लास्की के विश्व-विख्यात ग्रन्थ "Introduction to Politics" का अनुवाद करना सरल कार्य नहीं है। फिर भी, राजनीति का एक साधारण विद्यार्थी होने के नाते, लास्की के प्रति अपनी वर्षों की श्रद्धा के कारण तथा सेण्ट्रल बुक डिपो के श्री एम० एल० भार्गव के आग्रह से मैंने यह कार्य-भार उठाया था। ईश्वर जाने, मैं इसमें कितना सफल हुआ। चेष्टा तो की है कि अनुवाद सच्चा, सरल और स्पष्ट हो। हिन्दी में अभी राजनीतिक शब्दावली निश्चित न होने के कारण मैंने अपने शब्द भी गढ़े हैं। आशा है वे उपयुक्त समझे जावेंगे।

यह अनुवाद मूल ग्रंथ के सन् १९३९ के छठे संस्करण से है। अतः द्वितीय युद्ध के पूर्व की कुछ बातें तथा दृष्टिकोण इसमें वर्त्तमान हैं। मैंने चेष्टा की है कि इसमें लिखी पुरानी बातें—जैसे राष्ट्र परिषद् या मुसोलिनी के इटली के वर्णन को स्पष्ट कर दूँ—आधुनिक व्याख्या में मिला दूँ।

जालिया देवी, काशी
२४-६-५०

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

विषय-सूची

राजनीति प्रवेशिका

प्रथम अध्याय

राज्य क्या है

आधुनिक संसार में हरेक नागरिक किसी न किसी राज्य की प्रजा है। उसे कानूनन उस राज्य की आज्ञा का पालन करना होगा। उसके जीवन की गति ही राज्य द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसार निश्चित होती है। इसी निर्दिष्ट विधि को नियम या क़ानून कहते हैं। राज्य की सत्ता इसी से प्रकट होती है कि वह अपनी सीमा के भीतर रहने वालो से अपने नियमों का पालन कराने की शक्ति रखता है। यों तो हरेक संस्था या संगठन के नियम होते हैं, जिनका पालन हरेक सदस्य को करना पड़ता है। पर अपनी इच्छानुसार वह इनका सदस्य बना है और जब चाहे, सदस्यता छोड़कर उनके नियमों के बंधन से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत, ज्यों ही वह किसी राज्य में रहने लगा, उसे उसकी आज्ञा के पालन के सिवा कोई चारा न रहेगा। अन्य सभी संस्थाओं या संगठनों की तुलना में व्यक्ति के ऊपर राज्य का अधिकार क़ानूनन कहीं अधिक होता है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक सामाजिक रचना का सिरमौर राज्य है। समाज के हरप्रकार के समुदायों पर इसका प्रभुत्व और अधिकार रहता है और ऐसा अधिकार रखना ही राज्य की विशेषता बतलाता है।

अतः स्पष्ट है कि मानव चरित्र को नियंत्रण में रखने के लिये एक प्रणाली बन गयी है और उसी प्रणाली का नाम राज्य है। राज्य के स्वरूप की जितनी भी छानबीन कीजिये, यही प्रकट होगा कि यह एक प्रणाली मात्र है जिसके द्वारा मानव जीवन को नियंत्रण में रखने

के लिये आचार-व्यवहार के कुछ सिद्धान्त लागू कर दिये जाते हैं। राज्य आज्ञा देता है कि चोरी मत करो यह आज्ञा न मानने पर राज्य दंड देगा। वह आवश्यक कर्तव्यों की हिदायत देता है और उन्हें मनवाने के लिये शक्ति का उपयोग करता है। राज्य के ही दृष्टिकोण से, उसे ऐसा अनुशासन करने का स्वतः सिद्ध अधिकार है। ये हिदायतें या निर्देश उचित, अच्छे या बुद्धिमतापूर्ण हो या न हों पर राज्य के निर्देश हैं इसलिये वैध हैं, जायज़ हैं। आदमी किस परिस्थिति में कैसे काम करे, इसका अन्तिम निर्णय राज्य ही कर सकता है। इस निर्णय की क़ानूनी सूरत को ही राज्य द्वारा निर्दिष्ट "आवश्यक कर्तव्य" कहते हैं।

ये जायज "आवश्यक कर्तव्य" आप से आप न तो बनते हैं या समुदाय इनकी रचना करता है और लागू करता है। आज के राज्यों की परीक्षा कीजिये तो सर्वत्र यही दृश्य देख पड़ेगा कि राज्य की निर्धारित सीमा के भीतर मुट्ठी भर आदमियों का हुक्म शेष जनसमूह मान रहा है। यह भी पता चलेगा कि इन थोड़े से आदमियों द्वारा बनाये कायदे, चाहे वे ग्रेट-ब्रिटेन में "नरेश-सहित-पार्लामेंन्ट" में बनने के कारण सर्व-योग्य ही कहलायें या संयुक्त राज्य अमेरिका में बने हों, किन्तु, इन सभी क़ायदों का विषय और अधिकार-क्षेत्र सीमित रहता है। पर, इनका लेशमात्र भी उलंघन होने पर, वे मुट्ठी भर आदमी राज्य की समूची शक्ति का उपयोग कर अपने अधिकार को प्रतिपादित कर सकते हैं। संक्षेप में, हरेक राज्य एक मुल्की गरोह या देशीय समुदाय है। इसके दो अंग होते हैं एक सरकार और दूसरी प्रजा। राज्य में व्यक्तियों का एक समूह होता है जो उन जायज़ "आवश्यक कर्तव्यों" को लागू कराता है जिन पर राज्य क़ायम रहता है। यह समूह ही सरकार कहलाता है। देशीय समुदाय के अन्तर्गत केवल इसी समूह को अपने आदेशों के पालन के लिये शक्ति उपयोग करने का अधिकार है।

ध्यान रहे कि हरेक राज्य में एक ऐसा "संकल्प" होता है जो अन्य सभी संकल्पों के ऊपर कानूनी प्राधान्य रखता है। इसी के द्वारा राज्य अपने मुख्य निश्चय को प्राप्त करता है। पारिभाषिक शब्दों में, इसे प्रभु-संकल्प कहते हैं। कोई अन्य संकल्प या इच्छा इन पर हुक्म नहीं चला सकती। अन्ततः यह अपने अधिकार से पृथक नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये, ग्रेट-ब्रिटेन में "पार्लामेंन्ट सहित नरेश" का संकल्प ऐसा ही प्रभु-संकल्प है। अपने देश की सीमा के भीतर, वह जो कुछ निर्णय करेगी, वह उस राज्य के भीतर रहने वालों पर बाध्य होगा। वे उसके निर्णय को अनैतिक या बुद्धि-रहित मान सकते हैं, फिर भी क़ानूनन उसे मानने के लिये मजबूर हैं। कोई ब्रिटिश-प्रजा जिस गिरजा मंदिर (सम्प्रदाय) से संबंध रखता है, उससे मतभेद हो जाने के कारण उसे छोड़ सकता है। सम्प्रदाय या गिर्जा अपने निर्णयों को मानने के लिये मजबूर नहीं कर सकता है। किन्तु, वही ब्रिटिश-प्रजा यदि अपने सरकार के आय-कर संबंधी नियमों को न भी पसंद करे, पर क़ानूनन उन्हें मानने के लिये विवश है। यदि उसने इन नियमों के प्रभाव को मानना अस्वीकार कर दिया तो उसे अनिवार्यतः मनाया जावेगा और किसी न किसी रूप में इसका परिणाम भोगना होगा।

अतः यह भी कह सकते हैं कि राज्य उन व्यक्तियों का समुदाय है जिन्हें यदि आवश्यक हुआ तो मजबूरन, जीवन की एक निश्चित प्रणाली के आधीन कर लिया गया है। उस समाज में हरेक आचरण उस प्रणाली के अनुकूल होना चाहिये। समाज की इस प्रणाली या स्वरूप को निर्धारित करने वाले क़ायदों को ही राज्य का क़ानून या नियम कहते है। अतः तर्क से यह भी स्पष्ट है कि अपनी प्रारम्भिकता के कारण ही, यानी राज्य के स्वरूप को निर्धारित करने वाले प्रारम्भिक नियम होने के कारण ही ये सब नियमों के ऊपर है, सभी क़ायदे क़ानून के स्वामी या प्रभु हैं। इस समाज में इन नियमों को बनाने और लागू

करने वाले व्यक्तियों को "सरकार" कहा जाता है और इन नियमों का वह अंश जो यह तय करता है कि (१) इन क़ायदों को कैसे बनाया जाय। (२) किस तरह इनमें परिवर्त्तन किया जाय और (३) इन्हें कौन बनाये, वही राज्य का **शासन-विधान** कहलाता है।

ऊपर राज्य की शुद्ध वैधानिक व्याख्या ही की गयी है। बिना यह बतलाये हुए कि कैसे वर्तमान प्रणाली का विकास हुआ। इससे क्या लाभ होता है, उसके कार्य के साथ क्या गुणदोष मिले हैं, हमने केवल यही वर्णन किया है किस प्रकार आधुनिक समुदाय मे सामाजिक संबंधों का नियंत्रीकरण किया गया है।

पर स्पष्ट है कि जो नहीं बतलाया गया है, उसे जानना बहुत ज़रूरीहै। आज के राज्य की रुप रेखा अपने उस इतिहास का परिणाम है जिस मार्ग से वह विकासित हुआ है। बिना उस इतिहास के जाने राज्य नहीं समझ में आवेगा। किसी राज्य की शक्ति का शून्य में उपयोग नहीं होता है। निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इनका उपयोग होता है। किस समय जिसके हाथ में राज्य की शक्ति का उपयोग करने का जायज़ अधिकार होता है। वह जिन उद्देश्यों को लाभदायक समझता है, उन्हें प्राप्त करने के लिये राज्य के कायदे कानून में अन्तर करता रहता है। इस प्रकार के बने राज़्य में क्या गुण है और क्या खतरा, इसका निर्णय हम तभी कर सकेंगे जब हम उसके उद्देश्यों और उनकी पूर्ति के लिये किये गये उपायों के औचित्य आदि के संबध में अपना विचार निश्चित कर लें।

राज़्य के इतिहास को बतलाने का मैं यहाँ उपक्रम नहीं करूँगा। यहाँ पर केवल इतना ही जोर देना काफी होगा कि ऐतिहासिक धटनाओं को एक लम्बी शृंखला के परिणाम स्वरुप राज्य को "सर्व-प्रभु संस्था का रुप प्राप्त हुआ है। इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण घटना योरपीय इतिहास के सत्रहवी सदी के अन्त के सुधार युग की है जब एक ऐसे संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे अधिकार का पूरा दावा हों और जिसके

द्वारा अन्तिम निर्णय प्राप्त किये जा सके। अन्य सभी तत्कालीन संस्थाओं के ऊपर राज्य को प्राधान्य इसलिये हुआ कि उसके समान व्यवस्था तथा शान्ति स्थापित करने का दावा और कोई नहीं कर सकता था। धार्मिक विश्वासों की अनेकता द्वारा उत्पन्न अराजकता केवल संघर्ष ही पैदा कर रही थी। आर्थिक संगठन बिलकुल स्थानीय, संकुचित क्षेत्रों में तथा इतने छोटे थे कि वे कोई आम नियम या व्यवस्था नहीं बना या पैदा कर सकते थे। इनके बीच मे से राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था के रूप में प्रकट हुआ जो ऐसे कानूनन "आवश्यक कर्तव्यों" का फरमान जारी कर सकता था जिसका जनसमूह आदर करते। वह जीवन को इसलिये व्यवस्थित कर सका कि बिना उसके हुक्म के, जीव व्यवस्थित हो ही नहीं सकता था। राज्य की प्रतिस्पर्द्धी अन्य संस्थायें भी थी जोर कम मेहनत नहीं कर रही थी कि लोगों को अपना अनुवर्ती बना राज्य इन सब पर विजयी इस लिये हुआ कि मनुष्य को अपने संकल्प के आधीन कर लेने की अथवा अपनी इच्छा उस पर लागू कर देने की उसमें स्वाभाविक तथा अन्तर्निहित योग्यता थी। अन्य संगठनों में इस योग्यता का अभाव था।

प्रश्न है, राज्य अपना संकल्प लागू करने में क्यों समर्थ हुआ। यह समझने के लिये उसकी शुद्ध कानूनी रचना का विचार छोड़कर दार्शनिक समीक्षा करनी होगी। यहाँ स्पष्टतः दो भिन्न दृष्टिकोण से विचार है। करना होगा। यह समझाना होगा कि सधारणतः राज्य का क्या काम समय समय पर उसके द्वारा जारी किये गये अनुशासनों की कैसे मीमांसा की जाये। ये कानूनी हिदायतें साधारणतौर पर कैसी हों, यह समझने के लिये हमको एक अधार या माप दन्ड खोजना होगा। किसी राज्य के स्वभाव को एक शब्द में ही कैसे जान लिया जाता है। जैसे उदाहरणार्थ "फ्रांस का प्राचीन शासन।" हम किस प्रकार इस फैसले पर पहुँचते हैं कि प्राचीन शासन के समय का फ्रेंच राज्य उस काम को पूरा करने अयोग्य था जिसके लिये वास्तव में राज्य की सत्ता है।

राज्य से जिन कर्तव्यों को पूरा करने की माँग की जाती है उन्हें निभाने की उसमें जो क्षमता है, उसी को उसका अधिकार कहते हैं। उदाहरण के लिये उसकी प्रजा यह इच्छा करती है कि उसके जान और माल की हिफाजत हों। तब राज्य इस इच्छा को पूरी करने के लिये अपने क़ानूनी अंनुशासन जारी करता है। उसकी प्रजा अपने ढंग से ईश्वर की पूजा करना चाहती है, वह यह नहीं चाहती कि किसी विशेष प्रकार के धार्मिक विचारों के बारे में कोई रुकावट हो यदि इस मांग का विरोध नहीं होता तो राज्य धार्मिक सहिष्णुता को कानून" आवश्यक कर्तव्य" बना देता है। फ्रांस की राज्य क्रांति केवल इसलिये हुई कि वहाँ की प्राचीन शासन व्यवस्था में जो वैध आदेश थे, उनके कारण राज्य के सदस्य जो मांग पेश करते थे, उनको पूरा करना असंभव था।

इस प्रकार प्रजा की मांग के द्वारा ही कानूनी अनुशासन तैयार होते हैं। राजनीतिक शक्ति के केन्द्र को अपनी इच्छाओं से जो प्रभावित कर सकते है उन्हीं की इच्छा अथवा कामना के अनुसार यह आवश्यक कर्तव्य या अनुशासन बनते हैं। इन इच्छाओं की पूरी करने की चेष्टा में ही उस राज्य के नियम अथवा कानून बनते हैं। और इनका गुण उन इच्छाओं की पूर्ति की मात्रा पर निर्भर करेगा। राज्य के सामने उसके सदस्यों के समूह की प्रतिद्वन्दी इच्छाओं का ढेर रहता है। उनमें से कुछ को चुनकर वह "आबश्यक कर्तव्यों का कानूनी जामा पहना देता है। कौनसी इच्छा मानी जाय, इसका सिद्धान्त एक ही ढंग से तय नहीं होता काल तथा स्थान के अनुसार इसका निश्चय होता रहता है। पश्चिमी सभ्यता में हम किसी ऐसे राज्य की कल्पना भी नहीं कर सकते जो राष्ट्रीय शिक्षा की प्रणाली चलाने के लिये अपने सदस्यों से कर न वसूल करता हो। फिर भी हम देखते हैं कि डेढ़सौ बर्ष पहले यह विचार कल्पना के परे था कि कोई राज्य ऐसे काम में धन देने के लिये अपने सदस्यों को मजबूर करे। पहले जो मांग प्रभावशून्य

थी, समय पाकर अब उसे कोई रोक नहीं सकता। ऐसा क्यों है? प्रकट है कि जिनके हाथ में राज्य का अधिकार है उन्होंने इसे आवश्यक बुद्धिमता पूर्ण या उचित समझा कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली मांग को स्वीकार कर लें। किन्तु हमें यह भी पता लगाना है कि किस समय अथवा स्थान पर ऐसी मांगें किस प्रकार प्रभावशालिनी हो जाती हैं। स्पष्टतः इसका उत्तर यह नहीं हो सकता कि मांग उचित थी, प्रायः राज्य ऐसी मांगों को ठुकरा देता हैं जो वाजिब होती है और ऐसी मांगें स्वीकार कर लेता है जो देखने में कभी भी वाजिब नहीं कही जा सकती। पूरी की हुई मांग की तह में बुद्धमानी का होना जारूरी नहीं है क्यों की राजपटु लोग हमेशा बुद्धमानी से काम नहीं किया करते; आवश्यकता ज्यादा स्पष्ट कारण मालूम होती है। लेकिन, तब हमारे लिये यह जानना जरूरी हो जाता है कि किसी खास काल या स्थान पर राज्य किसी एक मांग को जारूरी क्यों समझता है और दूसरी को नहीं?

निस्संदेह, जिस नीयत से राजपटु लोग ऐसे अवसरों पर काम करते हैं, वह इतनी उलझी हुई होती है कि आसानी से नहीं समझाई जा सकती. बहुत से कारणों से ऐसा होता है—इसका एक कोई कारण नहीं है. फिर भी, साधारण तौर पर यह मान लेना चाहिये कि किसी एक राज्य को अपने आधीन समाज में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था को चलाना पड़ता है. हर प्रकार के समाज में आर्थिक शक्ति पर अधिकार या नियंत्रण के लिये संघर्ष होता है। इसलिये कि जिनके हाथ में शक्ति है, वे उस शक्ति के अनुसार अपनी मांगें पूरी कराने चलते हैं। ऐसी दशा में, इन मांगों को वैध अथवा जायज़ बनाने वाली विधि ही क़ानून है। जिस समय या स्थान पर आर्थिक शक्ति जिस प्रकार बँटी हुई होगी, उसी प्रकार उस समय तथा स्थान पर क़ानूनी आदेश अथवा आवश्यक कर्त्तव्य लागू किये जायेंगे। ऐसी परिस्थितियों में राज्य, आर्थिक व्यवस्था पर जिनका अधिकार होता है उन्हीं की मांगों को व्यक्त करता है। क़ानूनी व्यवस्था के परदे की

ओट में शक्तिशाली आर्थिक स्वार्थ राजनीतिक अधिकार का लाभ उठाते हैं। राज्य, जैसा कि उसका काम करने का ढंग है, जान बूझ-कर सर्वसाधारण के प्रति न्याय या कल्याण की खोज नहीं करता बल्कि व्यापक रूप में समाज के शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थों का प्रतिपादन करता है।

ऊपर लिखी बात से हमारा जो तात्पर्य है और हम जो समझाना चाहते हैं उससे अधिक अर्थ निकालने की असावधानी हमें नहीं करनी चाहिये। हमने केवल राज्य की आम सूरत या गुण बतलाया है। उसके कामों के विस्तार को नहीं समझाया गया है। आमतौर से तर्क यह किया गया है कि जिसके पास सम्पति होती है, उन्हीं को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं और जिन्हें कोई सम्पति नहीं होती वे इनसे बंचित रहते हैं। इसी से यह भी मालूम होता है कि किसी समाज में मिल्कियत का यह पलड़ा जिस प्रकार बदलता है उसी उसी प्रकार नये संतुलन को प्राप्त करने के लिये राज्य के कार्य का भी पलड़ा बदलता रहेगा। यह सही है कि इस प्रकार का परिवर्त्तन शायद ही कभी तुरन्त होता है और पूरी तौर से तो कभी भी नहीं होता। ऐतिहासिक गतिविधि में समय की ऐसी ठेस लगती रहती है कि हरप्रकार के परिवर्त्तन आंशिक होते हैं। ऐसे बहुत कम वर्ग होंगे जो अधिकार पाकर चरम-सीमा तक उसका उपयोग करें। नये संतुलन के प्रति अपने विरोधियों की स्वीकृति उन्हें खरीदनी पड़ती है। अधिकार पाने के बाद ऐसा अवसर कम न होगा जब कि वे यह न महसूस करें कि उन्हें असली संतोष तभी मिलेगा जब कि अपने से अलग लोगों को भी मिला लिया जाय। अपने विरोधी के अधिकार के समय अपने अलग रखे जाने के कष्ट का वे अनुभव कर चुके होते हैं इसीलिये नये सतुलन में उन्हें सबकी रज़ामंदी उचित मालूम पड़ती है। किन्तु किसी राज्य के क़ानूनों का अध्ययन करने पर हरेक को मालूम हो जायगा कि राज्य के नाम पर काम करने वाले

वर्ग की मांगों का ही उनसे समबन्ध है। इंगलैन्ड में व्यवसाय संघ के क़ानून का इतिहास, अमेरिका में साझेदारी की स्वतंत्रता का क़ानून, जर्मनी के पुराने राज्य प्रश्न का कृषि सबंधी क़ानून—इन सबके उदाहरण से यही मालूम होता है कि आर्थिक व्यवस्था पर जिस वर्ग का अधिकार था, उसने अपने हितों की रक्षा के लिये राज्य से वैसा क़ानूनी अनुशासन जारी करवा दिया।

हम यह बिल्कुल नहीं कहते कि शासक वर्ग में न्याय तथा उचित रूप से काम करने की इच्छा नहीं होती। किन्तु, भिन्न प्रकार से रहने वाले आदमी की विचारधारा भी भिन्न होती है। इसीलिये जब कोई वर्ग, समुदाय के हित में आवश्यक क़ानूनी कर्त्तव्यों के निर्धारित करने की समस्या पर विचार करता है तो उसके मन के भीतर जो अर्द्ध-सचेत विचार बैठा रहता है, वास्तव में उसी के अनुकुल वह न्याय तथा अच्छाई बुराई के सबंध में निश्चय कर पाता है। अमीर आदमी सुख को खरीदने में सम्पति की शक्ति का पूरा अन्दाज़ कभी नहीं लगा पाता। धार्मिक व्यक्ति नैतिकता के ऊपर धार्मिक विश्वास के प्रभाव का आवश्यकता से अधिक अनुमान करते हैं। पढ़े लिखे आदमी पांडित्य और बुद्धिमता का जरूरत से ज़्यादा सम्बन्ध समझ लेते हैं। हमारे अनुभव हमको बंदी बना लेते हैं और चुँकि हमारे अनुभवों का मुख्य भाग रोटी चलाने के प्रयत्नों से प्राप्त होता है, इसलिये जिस प्रकार हम अपनी जीविका चलाते हैं उसी के द्वारा उचित और अनुचित के सम्बंध में हमारे पक्के विचार बन जाते हैं। जान ब्राइट ऐसा पंडित भी फैक्ट्री क़ानून के महत्व को इसलिये कभी न समझ सका कि स्वयं मालिक होने के कारण उसके जीवन के तीव्र अनुभव उनके विपरीत थे, लार्ड शाफ़्टस बेरी ऐसा जमींदार जो कल कारखाने—सम्बंधी क़ानून के मौलिक न्याय को आसानी से समझ गया, यह कभी न समझ सका कि खेतिहर मज़दूरों की दशा को सुधारने के लिये भी

कुछ करना चाहिए। अमेरिकन राज्यों के संघ के कई राज्यों मे गुलामों के मालिक पूरी सच्चाई के साथ यह विश्वास करते थे कि गुलामी प्रथा गुलामों के ही हित में है।

कभी यह भी कहा जाता है कि यह बात उसी समुदाय के लिये लागू हो सकती है जहाँ शासन का अधिकार कुछ सत्ताधारियों के हाथ में होता है जैसे इंगलैड में, जहाँ मताधिकारी मध्यम श्रेणी के लोगों के हाथ में है और इसी लिये उसी के अनुरुप स्वभावतः कानून बनते है। किन्तु, जिस राज्य में प्रजातंत्र, है और व्यापक मताधिकार है तथा राज्य के हाकिम जनसमुदाय द्वारा चुने जाते है वहाँ यह सिद्धान्त लागू नहीं होता कि सम्पत्ति की शक्ति के अनुसार ही राज्य का रूप बनता है।

देखने में यह दलील जितनी ठोस मालूम होती है, वैसी नहीं है। यह सही है कि आमतौर पर प्रजातंत्रीय राज्य सत्ताधारी राज्य की तुलना में, जनसमूह के प्रति अधिक उदार होगा। उनीसवीं और बीसवीं शताब्दि के इंगलैड के कानूनों में अन्तर इसे साबित करता है। पर यह अन्तर इस विषय के मूल को नहीं स्पष्ट करते, शक्ति के उपयोग की आदत उसे शक्ति को रखने की चेतना पर निर्भर करती है और यह आदत उसके संगठन में और तुरत उपयोग में लाने की योग्यता से पैदा होती है। प्रजातंत्रीय राज्य में, जहाँ आर्थिक शक्ति में बड़ी समानता होती है, गरीबों में यह खासियत पाई जाती है कि उनमें इसी आदत की कमी होती है। वे यह जानते ही नहीं कि उनमें क्या शक्ति है। वे यह शायद हीं समझते हैं कि अपने हितों का संगठन करके वे क्या कर सकते हैं। अपने शासकों के पास उनकी सीधी पहुँच नहीं होती। प्रजातंत्रीय राज्य में मजदूर वर्ग अगर कोई काम करे तो निश्चित लाभ के अनुपात में उसकी आर्थिक सुरक्षा के के लिये खतरा ही ज्यादा रहता है, अपनी मांगों की पूर्ति के लिये उन्हें साधन का प्रायः अभाव ही रहता है। बिरले ही सीख पाते हैं कि

कैसे मांगें बनायी जांय और फिर उनके लिये लड़ा जाय। दूसरों पर हुक्म चलाने की आदत से जो आत्मविश्वास पैदा होता है। उसका उन्हें अनुभव नहीं होता। सदा से दूसरों का हुक्म मानते चले आने से उनके प्रति हीनता का भाव पैदा हो जाता है। जिन आधारों पर, परम्परा से, समाज की रचना हुई है उनके अनिवार्य प्रभाव से उत्पन्न सामाजिक संगठनों में वे उलझन ही पैदा कर देते हैं। सार्वजनिक मताधिकार की भित्ती पर रचे हुए राज्य से यह आशा करने का पूर कारण है कि अन्य किसी दूसरे प्रकार के राज्य की तुलना में, ऐसा राज्य ज़नसमूह के साथ अधिक रियायतें करेगा। पर ऐसे कोई ऐतिहासिक कारण नहीं प्रतीत होता कि यह मान ही लिया जाय कि ऐसा राज्य असमान आर्थिक सामाजिक रचना से उत्पन्न सामाजिक परिणाम को जड़ से बदल सकेगा।

निष्कर्ष यह निकला कि किसी राज्य के समाज में जिस ढंग से आर्थिक अधिकार वितरित होगा, उसी के अनुसार उससे जैसी मांग की जायगी, वैसा ही वहाँ कानून बनेगा, वैसा ही फरमान-जारी होगा। इस मोटी ही बात का मतलब हुआ कि जिस राज्य में आथिक बटवारा जितना अधिक समान होगा वहाँ राज्य के कानूनी आदेश उतने अधिक जन साधारण के लिये हितकर होगें। साफ जाहिर है कि आर्थिक बटवारा जितना अधिक समान होगा, उतनी अधिक समानता क्रियाशील मांगों में होगी। उस समय राज्य का संकल्प किसी एक वर्ग के लिये पक्षपातपूर्ण नहीं होगा। यदि राज्य मांगों को पूरा करने वाली संस्था है तो उसके शासन में जनता के अधिकारों में जितनी समानता होगी, उतनी ही सम्पूर्णता के साथ वह जनसमूह की इच्छा पूरी कर सकेगा।

कम से कम, इतिहास का ऐसा ही अनुभव है। सामन्तशाही राज्य बहुत समय तक के लिये केवल इसलिये चल सके कि उनके आधीन जो समुदाय अधिकार-हीन था, उसमें से बहुत कम लोगों को

राज्य की नींव को ही हिला देने की अपनी शक्ति का ज्ञान था और इनकी तुच्छ सख्या के कारण ही वे प्रभाव-शून्य थे। और, ये सामन्तशाही राज्य समाप्त इसलिये हुए कि वस्तु के उत्पादन की रीति में ऐसा परिवर्तन होगया जिससे नयी योजना में, उत्पादन के काम में जिनका महत्वपूर्ण भाग था, वे राज्य के कानून तथा "आवश्यक कर्तव्यों" की सीमा को अपने लिये लाभदायक रूप दिला सकने में समर्थ हुए।

उपर्लिखित वर्णन के बाद हम यह निर्णय कर सकते हैं कि राज्य को शुद्ध कानूनी व्यवस्था या संध कहने का क्या तात्पर्य है। इसे ऐसा मान लेने पर काननी दायरे के बाहर इसकी कोई और जायज सूरत नहीं रह जाती। जिस समय जिस राज्य में जो शक्तियाँ काम करती हैं उन्हीं के अनुसार उस राज्य की तात्कालिक स्थिति बन जाती है और इन्हीं के समानान्तर उनके काननी आदेश उस समय बनते और शक्तियों में परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। उसके कानून बैध अथवा जायज इसलिये होते हैं कि किसी निश्चित समय में वे लागू किये जा सकते हैं। एक बार उन कानूनों को उनके वास्तविक आधार के अलावा अन्य कारणों से जायज साबित करने की चेष्टा की जाय तो हमको कानून के दायरे से निकल कर अन्य क्षेत्रों की शरण लेनी पड़ेगी। कांग्रेस (सयुक्त राज्य अमेरिका की व्यवस्थापक महासभा) या पार्लामेंट (इंग्लैड की व्यवस्थापक महासभा) की किसी व्यवस्था को कानूनी दायरे में इसलिये मानने को कहा जाता है कि वह कांग्रेस या पार्लामेंट की व्यवस्था है। यदि वह इस आधार पर लोगों की स्वीकृति चाहे कि यह बुद्धिमत्तापूर्ण या उचित नियम है तो जिस श्रोत से उस की बुनियाद हुई है, वही अप्रासंगिक हो जायगा, क्यों कि ऐसी दशा में यह व्यवस्था अपनी उपयोगिता के सिद्धान्त को लेकर हमारे सामने आती है और तब इसके गुण-दोष का फैसला कानूनके दायरे के बाहर की चीज हो जाता है।

अब यहाँ पर राज की दार्शनिकता का दूसरा पहलू हमारे सामने

आता है जिसका हम ऊपर भी उल्लेख कर चुके है हमने यह बतलाया है कि राज्य कानूनन "आवश्यक कर्तव्यों" के ऐसे आदेशों की योजना है जिन्हें उसके नाम पर कुछ लोग जारी करते हैं और इन्हीं कुछ व्यतियों के समुच्चय को सरकार कहते हैं हमने यह भी देख लिया है कि यह आदेश विधि मूलतः आर्थिक योजना से पैदा होती है। जिस समय जो आर्थिक योजना अपनी मांग को समाज में प्राभवशाली बना सकी, उसी के अनुकूल आदेश लागू होंगे। पर, इस बात से हमें केवल वस्तुस्थिति मालूम होती है। इससे यह प्रकट होता है कि राज्यविशेष प्रकार के कानून क्यों बनाता है। इससे यह नहीं मालूम होता है कि राज्य के कानून का क्या गुण होना चाहिये।

केवल नियम की दृष्टि से उसका इसलिये पालन होना चाहिये कि नियम बनाने वाले ने उसे बनाया है। पर, मैं यदि यह पूछूँ कि मुझसे यह क्यों आशा की जाती है कि मैं राज्य की आज्ञा का पालन करूं तो इतना ही कह देना काफी न होगा कि केवल इसलिये कि वह राज्य की आज्ञा है, इसलिये मुझे पालन करनी चाहिये। मैं पूछूँगा, और लोग पहिले भी यह पूछते आते हैं, कि राज्य की हिदायतों का मानना क्यों उचित है और यदि वे हिदायतें ऐसी हैं जो हमारे विचार भाव तथा आशाओं के विपरीत हैं तो क्यों न पहले के लोगों की तरह मैं भी उन आज्ञाओं को मानना अस्वीकार करने के अलावा अपने सामने कोई दूसरा उपाय न समझूँ।

अतएव, राज्य के हुक्मनामों को राज्य का फ़रमान होने के दावे के आलावा, अपना औचित्य साबित करना होगा इस दलील का मतलब यही होता है कि अगर हुक्म न मानोगे तो जबरन मनवाया जावेगा। कानून का आधार जाहिर है पर, इसके अधिक और कुछ नहीं मालूम होता। इनसे यह नहीं पता चलता कि इन आज्ञाओं को प्रचलित करके राज्य ने उचित किया। इसलिये राज्य के नियम या कानून तब तक न्याय संगत न होंगे जब तक नियम की उपर्लिखित मोटी व्याख्या

के ऊपर न उठे। हमें तो यह पता लगाना है कि नियम किसलिये बने, यह किन उद्देश्यों की पूर्ति का दम भरते हैं और काय` कानून ऐसा क्या चाहते हैं कि उनका और हमारा लक्ष्य एक हो। जब तक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता हम राजनैतिक दार्शनिकता के अनुरूप तथा उपयुक्त राज्य का सिद्धान्त नहीं बना सकते। अतएव, मनुष्य को कानून मानने को सलाह देने के पहले क़नून का ह: असली कारण बतलाना होगा।

नियमों के असली कारण वास्तव में वैसे ही भिन्न हैं जैसे मानव जाति के ऐतिहासिक अनुभव। किन्तु, यह लाभदायक होगा कि हम उन कतिपय मार्कें की भावनाओं को समझ लें जिनसे यह मालूम होगा कि मनुष्य उन संस्थाओं के संगठन में रहने की योजना को क्यों उचित समझने लगा जिनमें वह रहता आया है। मानव जाति के प्रारम्भिक अनुभवों में, जो सबसे आम विचार बने वे धार्मिक कहे जा सकते हैं। देवता या देवतागण अपने आधीन रहने वालों को जो दैवी नियम प्रदान करते हैं--वही नियम कानून हैं। इनको इसलिए मानना चाहिये कि वे दैवी प्रेरणा से बने हैं हजरत मूसा के कानून की ठीक यही सूरत थी। हम्मुरावी ने जो कायदे बनाये थे उन्हें वह सूर्य देवता से पूरे विस्तार के साथ प्राप्त किया कहता था। आदमियों से कहा जाता है कि इन आज्ञाओं को मानो वरना इसका उल्लंघन करने पर दैवी कोप झेलना पड़ेगा। ऐसे नियमों की एक दूसरी सूरत भी होती है। कुछ प्राचीन रीति रिवाज जो सम्भवतः लिखा हुआ नहीं पाया जाता, पर परम्परा से पुरोहितों पुजारियों द्वारा सुरक्षित चला आता है, इस भय से पालन किया जाता है कि उसका अनादर करने पर भगवान का कोप बरस पड़ेगा।

ये बातें मानव जाति के प्रारम्भिक इतिहास के समय की हैं। सभ्यता जब कुछ अधिक अनुभवी हुई तो, उदाहरण के लिये रूम की न्यायप्रणाली में, नियमों के पालन को इसलिये सलाह दी गई कि वे

वस्तु की वास्तविकता के सिद्धान्त पर बने हैं और इसी लिये मनुष्य को उनके अनुसार आचरण करना चाहिये। टाम्स एविवनाज का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। उनके अनुसार कानून वह आइना है जिस में वह दैवि विवेक प्रतिबिम्बित होता है जिससे विश्व की योजना बनी तथा नियंत्रण होता है। उनका पालन करने से और उनका पालन करना चाहिये मानव अपने आचरण को दैवी योजना के अनुरूप बना लेता है और इसी अनुरूपता पर विश्व की सद्व्यवस्थित सत्ता निर्भर करती है। कुछ इसी प्रकार का मत प्रसिद्ध पंडित कान्ट का भी है। उनके अनुसार नियम यह कानून नैतिक आदेशों की रीति मात्र हैं जिनका पालन करने से मनुष्य एक ही रीति के अन्य व्यक्तियों के समान अपनी उच्चतम स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकता है। इस उच्चतम स्वतंत्रता को सब समान रूप से प्राप्त कर सकते हैं। इसी विचार को हीगल ने सांसारिक ज्ञान के अनुकूल रूप यह कहकर दिया है कि इतिहास की गति ऐसी है कि अनवरत अधिकतम स्वतंत्रता का पर्दा खुलता जाता है और इसकी प्राप्ति राज्य के क्रमागत विकास द्वारा होती है।

इन सभी ऊपर लिखे सिद्धान्तों की एक खासियत है—वे, कानून के अधिकार को मनुष्य के नियंत्रण के बाहर की चीज बना देते हैं चाहे ईश्वर का डर हो या विश्व की अन्तर्निहित योजना की पूर्ति हो, या वृद्धिशील स्वतंत्रता की प्राप्ति हो, वे आदमी की ऐसी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते जिसके निज के संचित अनुभवों से, अपनी जानकारी और इच्छानुसार कानून बने हों। इन नियमों का तत्व उसे अपने से बाहर से प्राप्त करना होगा। उसकी अच्छाई इसी में समझी जाती है कि वह उन कायदों के अनुकूल काम करे जिन्हें बनाने में उसका कोई हाथ नहीं था। उसे नियम रूपी नसीहतों की ऐसी व्यवस्था माननी पड़ती है जिनका भार विस्व को गति के अनिवार्य परिणाम के रूप में उस पर लाद दिया जाता है और यदि वह इनसे भागता है तो उसका

जीवन उद्धार ही खतरे में पड़ जाता है। स्पष्ट है कि इन सिद्धान्तों से काम नहीं चल सकता। ऐतिहासिक खोज ने धार्मिक अधिकारों के दावे पर चलने वाली हरेक प्रणाली क धज्जियां उड़ा दी हैं। उसने जिस ईश्वर का पता लगाया है वह ऐसी रहस्य भरी भाषा में बात करता है जिसका जादू केवल अपने से अपने को उसका वक्ता नियुक्त करने वालों पर चलता है। ऐसे लोग विश्व की गति का एक तर्क अनुमान कर लेते हैं और उसे प्राकृतिक या विवेकयुक्त समझते हैं। वे सामाजिक जगत में ऐसे नियम प्राप्त करने की चेष्टा करते है जो निर्जीव प्रकृति के समान गुण रखती हो। पर यह चेष्टा असम्भव है। यह इस सत्य को भूल जाना है कि सामाजिक जगत स्थाई रूप से बलवान होने के साथ ही स्थाई रूप से नया भी है। उसके अन्तर्गत जनसमूह में हरेक के व्यक्तिगत क्रियाशील संकल्पों को मिलकर समीकरण होता है और ये व्यक्ति अपने कामों के सामूहिक परिणाम को देखकर, उन्हें बदलने की की योग्यता रखते हैं। परिवर्तन की इच्छा होने पर वे परिवर्तन करते हैं। इसलिये जिन मियमों में प्राकृतिक नियमों के समान दृढ़ स्थिरता हो, जैसे मौलिक विज्ञान या रसायन शास्त्र, वैसे कानून राजनीति क्षेत्र में नहीं बन सकते। सामाजिक—जीवन में, अपने स्वभाव के अनुसार, सब चीजों से उदासीन रहने वालों की तरह, लोग यह भूल जाते हैं कि सभ्य संसार में मनुष्य की प्रकृति ही कलामय है। व्यापक रूप से प्रिय सौन्दर्य तथा अच्छाई की भावना पर ही कला के उच्चतम सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन बनता है।

सच तो यह है कि कानून के जिन अधिकांश उसूलों पर हमने अभी विचार किया है वे सदैव ऐसी ही सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में हैं, जिसमें कुछ के लाभ के लिये अधिकांश के हितों का बलिदान होता है। राज्य का जो उसूल पंडित हीगल ने बनाया था उसकी भी निशानी ऐसी बात में नहीं मिलती जैसे कि यह कहा जाय कि प्रजा ने राजा का अनुशासन मानकर अपनी स्वतंत्रता की चरम सीमा की

अभिव्यक्ति प्राप्त कर ली। संक्षेप में, ऐसी भावना केवल अधिकार-हीन जनसमूह की इच्छा या संकल्पों के आंशिक तथा पक्षपात पूर्ण अनुभवों से ही पैदा हो सकती है जिसमें यह जानने की चेष्टा ही नहीं की जाती कि उस जनसमूह को उस धारणा के परिणाम के विषय में क्या अनुभव है। इसी अधूरे अनुभव ने कानून के सिद्धान्त को ऐसा आकर्षक बना दिया है जिसने यूनानी सभ्यता के समय से ही मनुष्य को स्थाई रूप से लुभा रखा है।

मूलतः कानून का यह उसूल बहुत सादा है। उसका कहना है कि की कानून तब तक आदमी पर लागू नहीं हो सकता जब तक वह उसे अपने ऊपर बाध्य करने की स्वीकृति न दे। इसलिये कानूनी निर्देश राज्य की जिस किसी प्रणाली द्वारा जायज बन जाते हैं, उसीसे साबित होता है कि जनता ने उस सिद्धान्त को मान लिया है जिनके आधार पर कानून बना है। सभी जानते हैं कि अगर आदमी अपना वादा पूरा न करे तो जीवन दुर्लभ हो जावे। हमको अपना राज्य लोंगों की रजामन्दी से बनाने दो। तब जो कानून बनेगा वह हरेक नागरिक को बांधने का दावा कर सकेगा। अन्यथा यह शासन नहीं, शुद्ध जबर्दस्ती है और इसका कोई नैतिक आधार नहीं है।

मोटे तौर पर सामाजिक ठीका का यही उसूल है। मनुष्य राज्य की रचना करना स्वीकार करता है और उसे हुक्म चलाने की शक्ति प्रदान करता है। हाबेज़ का कहना है कि यह शक्ति या अधिकार सीमा रहित और अभंग है। अरजाकता के अभिशाप से बचने के लिये जनता अपने ऊपर एक निरंकुश स्वामी बैठा लेती है। लॉके का कहना है कि राज्य की शक्ति सीमित है और वापस ली जा सकती है। जनता राज्य की रचना से अपना लाभ समझ कर उसे बनाती हैं पर उसे सर्वयोग्य नहीं स्वीकार करती। राज्य एक लिमिटेड कंपनी की तरह से है, जिसमें क्रांति के भय से स्थापना के उद्देश्यों के अनुसार रहना पड़ेगा। रूसो का सिद्धान्त है कि जनता ही सर्व योग्य

है और उसी की स्वीकृति से राज्य प्रकट होता है। पर, उसके हरेक कार्य में, हरेक संकल्प में जनता संकल्प का अंश वर्त्तमान है। स्थायी रुप से जनता की सम्मति लेकर राज्य चल रहा है और उसके क़ानून प्रजा पर केवल इसलिये लागू हैं कि वह जनता स्वयं उनका तत्व बनाती चलती है।

मेरी समझ में इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जनता की सम्मती से जो क़ानून बनते हैं उनका यह दावा काफ़ी बलवान है कि वे सबसे अपनी आज्ञा का पालन करायें। नियमों की इतनी शक्ति का दावा इस विषय में और कोई दूसरा उसूल नहीं कर सकता। सम्मति के इस सिद्धान्त में, नियमों के प्रति अपनी स्वीकृति देकर, मनुष्य स्वयं अपने ऊपर ही ज़िम्मेदारी ले लेता है और इसलिये यह साफ़ तौर से उचित है कि वह अपने को उनके बन्धन में समझे। किन्तु, ऐसे सिद्धान्त में जो गहरे दोष है उनको भी हमें नहीं छोड़ देना चाहिये। इस उसूल की तह में कहा जाता है कि पहले शुरु शुरु में एक समाजिक ठीका या समझौता हुआ होगा, पर इसका प्रमाण क्या है। राज्य बनाया नहीं गया है, उसका विकास हुआ है। और उसका कार्य-विस्तार केवल सम्मति के ही आधार पर नहीं हुआ है। इसके अनेक उदाहरण है कि किन्हीं अवसरों पर राज्य के भीतर विरोधी अल्पमत वालों को मजबूरन उसकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी हैं। यह बात भी ध्यान में रखनी है कि छोटे छोटे नगर के राज्यों की परिधि को पार करने के बाद राज्य की सीमा के बड़ा हो जाने के कारण, उसके संकल्प तथा इच्छा को व्यवहारिक रूप में व्यक्त करने के लिये, किसी ऐसे प्रकार की ही सरकार बनेगी जो जनता के प्रति-निधियों द्वारा ही चलाई जाय।

रूसों के समाजिक ठीके के सिद्धान्त वाले इस विषय में प्रायः यह कहते हैं कि इसमें भी जनता की मौन सम्मति होती है, किन्तु, यह स्पष्ट है कि चूँकि सम्मति का अर्थ होता हैं "मानसिक संकल्प के

अनुसार, इच्छानुसार काम करना" इसलिये केवल यह मान लेने से ही काम न चलेगा कि सम्मति तो होगी ही। और उस क़ानून के बारे में हम क्या कहेंगे जिसके बनने के समय मनुष्य की सम्मति होती है, पर उसके व्यवहारिक परिणाम का अनुभव करके वह अपनी सम्मति वापस ले लेता है। क्या ऐसी दशा में भी वह नियम उसके लिये बैध हैं। यदि इसी प्रकार सम्मति वापस ले ली जाया करे तो क्या शासन का काम असंभव न हो जायगा। सारांश यह कि कानूनी अनुशासनों की ऐसी कोई भी प्रणाली अधिक अच्छी समझी जायगी जिसमें जनसमूह पर कम से कम दबाव पड़े। किन्तु, आधुनिक समुदाय के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए यह असंभव है कि कोई ऐसी प्रणाली बने जिसमें कम से कम उसके कुछ नागरिकों पर राज्य बल प्रयोग न करना पड़े।

आइये हम अपनी असली सम्मति दूसरे ढंग से बतलायें। मैंने कहा है कि मनुष्य के आचरण को नियंत्रित करने वाली प्रणाली का नाम राज्य है। यह ऐसी कानून-व्यवस्था है जिसके कायदों के एक ढंग में बंधकर आदमी को बर्ताव करना पड़ता है। अन्ततोगत्वा इसके राज्य के कार्य आज्ञा के रूप में होते हैं और नियमितः राज्य का कोई भी नागरिक इनसे बच नहीं सकता। किन्तु, उसमें यह शक्ति क्यों है। राज्य के व्यवहारिक कार्यों कों छोड़कर और किसी तरह इसकी सफ़ाई नहीं दी जा सकती। राज्य जो करना चाहता है उसी की जानकारी से उसकी शक्ति का औचित्य प्रमाणित होता है। उसके नियमों को इस योग्य होना चाहिये कि वे उन माँगो को पूरा कर सके जिनके लिये वे बनाये गये हैं। राज्य के भीतर विभिन्न प्रकार के स्वार्थों और अकाँक्षाओं के लोगों का जमघट है'। निजी स्वार्थ होते हैं, कुछ में सहयोग होता है' कुछ में प्रतिद्वन्दिता होती है। यदि वह हरेक को अपने आधीन रखने का दावा करता है तो उसे चाहिये कि समाज मात्र की मांग को अधिकतम सीमा तक पूरा कर सके। उसे विभिन्न

स्वार्थों में ऐसा संतुलन प्राप्त करना चाहिये कि अन्य किसी दूसरे उपाय की तुलना में वह अधिक से अधिक स्वार्थों तथा हितों को संतुष्ट कर सके। यह संतुलन कैसे प्राप्त हो, हम किसी स्थायी सिद्धान्त के अनुसार नहीं बता सकते—केवल इसलिये कि हरेक युग में वस्तुओं का मूल्य बदल जाता है'। दृष्टिकोण बदलता रहता है, और किसी एक विधि का तात्विक गुण बनते और समाप्त होते कोई देर नहीं लगती। हम तो यही कह सकते हैं कि कानूनन "आवश्यक कर्त्तव्य" तभी लागू किये जांय जब हम उनके द्वारा मनुष्य की इच्छाओं का कम से कम हनन करके, उनका सामूहिक कल्याण कर सकें। अतः हमको ऐसी संस्थाओं की रचना करनी पड़ेगी जिनके द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये, राज्य अपना कार्य संचालन करे।

——

अध्याय ३

महान समाज में राज्य का स्थान

पिछले अध्याय में मैंने तर्क किया है कि राज्य की शक्ति का औचित्य उसी सीमा तक है, जहाँ तक वह जनसमूह से कम से कम त्याग कराकर—उसके ऊपर कम से कम प्रतिबंध तथा नियंत्रण द्वारा—मानव की आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति करता है। अपने इस कार्य की पूर्ति के गुण-दोष पर ही जनता द्वारा केवल नियमानुरुप से अधिक राज भक्ति पाने का उसे अधिकार होगा।

इसका सही तात्पर्य समझने के लिये हमको महान समाज में राज्य का स्थान जान लेना चाहिये। मैंने ऊपर बतलाया है कि मानव के आचार-व्यवहार का नियंत्रण करनेवाली एक प्रणाली का ही नाम राज्य है, किन्तु, राज्य के प्रत्येक सदस्य के जीवन पर इन निमंत्रणों का जो परिणाम होता है, उन्हीं से इनका औचित्य निश्चित होता है। हरेक व्यक्ति अपनी इच्छाओं या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है ताकि सुख की प्राप्ति हो। उसके लिये राज्य ही वह महानतम संस्था है, जिसने ऐसे नियम बना दिये हैं जिनके भीतर चल कर ही वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। राज्य के कुछ निर्देश उसे पसन्द होंगे। कुछ से उसे गहरी चिढ़ होगी। उसकी दृष्टि में राज्य कुछ काम करके या न करके, अपराध कर रहा है। वह चाहता है कि राज्य का संकल्प अथवा इच्छा, जहाँ तक संभव हो, उसके निजी अनुभवों से प्राप्त उपदेशों के साथ सामञ्जस्य रखते हों।

वह व्यक्ति केवल राज्य का ही सदस्य नहीं है। जिस समाज का वह अंग है, उसमें अनगिनत स्वार्थ-समुच्चय हैं, जिनसे उसका भी

नाता है। वह किसी सम्प्रदायका सदस्य है, व्यसाय संघ में शामिल है, संक्रामक रोगों में अनिवार्यतःटी का लगाने के अन्दोलन का समर्थक हैं, वह ऐसा शान्तिवादी, हो सकता है कि अनिवार्य्य सेवा में उसे मौलिक या सैद्धान्तिक आपत्ति हो। कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपने स्वार्थों के कारण उपर्लिखित स्वार्थों की सिद्ध के लिये एत्सम्बंधी गुटबन्दी या गुटबंदियों से सम्बंध रखता है। ये संस्था में राज्य द्वारा निर्धारित नियमों के अंतर्गत ही, अधिकांशतः काम करती हैं। राज का संकल्प ही वह सीमा निश्चित करता है जिसके भीतर संस्था के रुप में ढले हुए वे स्वार्थ समूह अपनी इच्छा या संकल्प को सीमित रखेंगे। इन संस्थाओं को अथवा स्वार्थों की इच्छा से उनके सदस्य वहीं तक बाध्य हैं जहाँ कि वे राज्य द्वारा निर्दिष्ट वैध निर्देशों के अंतर्गत हों।

पर व्यक्ति केवल राज्य का एक सदस्य नहीं है। इसी लिए, वह अपने को बाध्य नहीं समझता कि केवल सर्व प्रभु राजनैतिक संगठन होने के कारण ही उसकी आज्ञा का पालन करे वह अपने अनुभव से भी काम लेता है। वह राज्य के कार्यों की समीक्षा करता है। उसका ऐसा द्वन्दमय व्यक्तित्व है। जिससे वह राज्य के भीतर उसका एक अंग बनकर काम करता है, या अलग हो जाता है। मान लिया जाय कि उसके धार्मिक समुदाय का राज्य से झगड़ा हो गया—संघर्ष हो गया ऐसी दशा में व्यक्ति ही निर्णय करेगा—और वही निर्णय कर सकता है कि किसका साथ दे—सम्प्रदाय का या राज्य का यदि राज्य ने उसके व्यवसाय संघ को कुचल डालने का निश्चय किया तो व्यक्ति अपने संघ के इस निश्चय में सहायक होगा कि कुचला जाना स्वीकार किया जाय या नहीं। राज्य सदैव आकस्मिकता के वातावरण में काम करता है। सफलता पूर्वक दबा सकने की शक्ति के लिए यह जरूरी है कि सफलता पूर्वक मनवा लेने की भी शक्ति हो। राज्य व्यक्ति को यह समझने में सहायक हो कि उसका कल्याण इसी में है कि वह उसके वैध निर्देशों का पालन करे। व्यक्ति की राजभक्ति राज्य के प्रति

इसलिए नहीं है कि वह राज्य है—बल्कि इसलिए है कि राज्य क्या करना चाहता है।

साधारणतः हमको ऐसा अवसर बिरले ही मिलता है जब कि राज्य अपनी आज्ञापालन के स्वत्व के अकस्मात् प्रकट करे। साधारणतः व्यक्ति आज्ञा पालन में हिचकता नहीं। राज्य की शक्ति महान हैं। व्यक्ति की सत्ता के मूल तक उसका अनुशासन है। राज्य के अधिकार से चुनौती देने के लिए उसे अपनी जड़ तक हिला देनी पड़ेगी। किन्तु, राष्ट्रीय अन्दोलन के साधारण इतिहास, या क्रान्तिकारी दलों या उनके नेताओं के जीवन के अध्ययन से तथा इङ्गलैण्ड में सन् १६१८ के पूर्व तक स्त्री मताधिकार आन्दोलन के इतिहास से भी' यह प्रकट है कि जिस चीज को मानव न्याय समझता है, जब उसे राज्य की प्रवृत्ति से आघात पहुँचता है तो वह और उसी के समान विचार रखने वाले अन्ततोगत्वा, राज्य के कार्यों से अपनी असहमति व्यक्त करने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

हम इस प्रकार की असहमति या अस्वीकृति को तब तक निन्दनीय नहीं कह सकते जब तक यह न मानलें कि समाज का सर्वोपरि कल्याण केवल व्यवस्था कायम रखने में है। यह असम्भव बात है। व्यवस्था का महत्त्व उससे उत्पन्न होने वाला परिणाम है। व्यवस्था केवल व्यवस्था होने के कारण अच्छी नहीं होती। ऐसी व्यवस्था के पालन से जिनमें राज्य के कार्यों से नगारिकों का निरंतर हनन हो रहा हो, जीवन को जीवन के योग्य बनाने वाली परिस्थिति की हत्या करना है राज़्य को हम अपनी भक्ति इसलिए प्रदान करते हैं। कि उसका उद्देश्य हमारे जीवन के उद्देश्यों के समानान्तर हो। अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए हम उसका प्रभुत्व स्वीकार करते हैं। उसके कार्य सञ्चालन से हमको ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि हमारी भलाई उसकी भलाई में है। हमको यह महसूस होना चाहिए कि उसके नियम राज़्य के अन्य सदस्यों के सुख के हित में जिस प्रकार हैं। उससे कम

हमारे सुख के हित में नहीं हैं। जब उसके कार्यों से हमारा अनुभव इसके विपरीत होता है, हम उसके अधिकार को चुनौती देने के लिए बाध्य होते हैं—यदि हम अपनी चुनौती कों क्रियात्मक रुपेण प्रभावपूर्ण कर सकें।

आइये, इसी बात को दूसरी तरह से कहें। राज्य नियमों का परिचालन करता है, नियम यानी क़ानून की हिदायत में नहीं, पर इसलिये कि वे व्यक्तिगत जीवन के लिये क्या करते हैं। उसका हरेक सदस्य सुख की खोज में प्रयत्नशील है। उसे ऐसी परिस्थिति चाहिये जिसके बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। और वह व्यक्ति राज्य की परख इसी से करता है कि उसे वह परिस्थिति कितनी मात्रा में मिल रही है। यह स्पष्ट है कि राज्य हरेक को सुख दिलाने की गारण्टी नहीं ले सकता। यह इसलिये कि सुख-सम्बंधी कुछ परिस्थितियाँ उसके बूते के बाहर की चीज है। किसी व्यक्ति को बिना अमुक स्त्री का प्रेम प्राप्त किये जीवन भार मालूम होता है। पर, कोई यह दावा न करेगा कि राज्य को उसके लिये उस स्त्री से प्रेम का आश्वासन प्राप्त कराना चाहिये। हम केवल यही कह सकते हैं कि सन्तुष्ट सामाजिक जीवन के लिये—उसके न्यूनतम मूल आधार के लिये—कुछ ऐसी सुखदायक परिस्थितियाँ है, जिनसे जनसमूह को निश्चित सीमा तक सुखी किया जा सकता है। यदि राज्य चाहता है कि उसके अनुशासन में लोग रहें तो उसे कम से कम उतना सुख तो अपने सदस्यों को प्राप्त कराना चाहिये ही।

संक्षेप में, नियम या कानून बनाकर, राज्य अपने लिये ज़िम्मेदारियाँ पैदा कर लेता है। राज्य का कार्य उसके उद्देश्य तक सीमीत रहता है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति हो— इस उद्देश्य की रक्षा हो, इसी लिये जनता राज्य में अपना भी अधिकार रखती है। जनता के अधिकार से हमारा क्या तात्पर्य है? ऐतिहासिक अनुभव से हम कह सकते हैं कि यह वह वस्तु है जिसमें बिना मानव को विश्वास ही नहीं हो सकता कि उसे

सुख की प्राप्ति होगी। हम यह नहीं कहते कि मानव के अधिकार निरंतर है, स्पष्टत; वे समय तथा स्थान से सम्बंधित हैं। इस सम्बंध या अपेक्षाकृत स्थिति को स्वीकार करते हुए भी, व्यक्ति को पूरा अधिकार है कि राज्य के अनुशासन में चलने के लिये अपने स्वत्व को स्वीकार करने की शक्ति लगाये।

स्यात्, हमारे इस कथन का भाव समझने के लिये यह उचित होगा कि हम अपने अंग्रेज़ी समाज में साधारण नागरिक की स्थिति का चित्रण करें। बिना निजी रक्षा के लिये वह सुख की आशा नहीं कर सकता। उसे यह जानना ही चाहिये कि जीवन चर्या में यह साधारणतः आशा की जाने वाली बात पूरी होगी—वह अपने ऊपर आक्रमण के भय से मुक्त है। उसके जीवन निर्वाह का साधन होना चाहिये यानी राज्य यह स्वीकार करे कि उसे जीविका के लिये काम करने का अधिकार है और यदि उसे काम नहीं दिया जारहा है तो समाज को उसने अच्छी तरह भरण-पोषण का प्रबंध करना चाहिये। किन्तु, केवल "जीविका के लिये काम करने का अधिकार" मात्र कह देने से सभ्य जीवन की आवश्कतायें नहीं पूरी हो जाती। इसका अर्थ यह भी होना चाहिये कि उसे उचित मज़दूरी पर काम मिले और इतने घण्टो तक काम लिया जाय जिससे वह केवल जीवन निवाह के अतिरिक्त, व्यक्तिगत विशिष्टता भी प्राप्त कर सके। उचित मजदूरी से मेरा तात्पर्य ऐसी प्राप्ति से है जिससे शारीरिक भूख-प्यास को शान्ति के अतिरिक्त मानव की आध्यात्मिक माँगे भी पूरी हो सकें। मैं कहता हूँ कि काम करने के उचित घण्टे होने चाहिये। इसलिये कि मशीनों से आविर्भूत हमारी आधुनिक सभ्यता में अधिकांश नागरिक अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्णता अवकाश के घण्टो में ही प्राप्त करते हैं। काम करने वाले समय में नहीं। जिस राज्य में, औद्योगिक क्रान्ति के युग की तरह, मालिक को अपने कार्यकर्त्ताओं से विश्राम-रहित परिश्रम लेने का अधिकार होता है, वह सुख-प्राप्ति की कोई सम्भावना भी समाप्त कर

देता है, उलट देता है। इस लिये "विश्राम का अधिकार" भी राज्य की ओर निर्धारित वैध आवश्यक-कर्त्तव्य होना चाहिये।

किन्तु, यदि राज्य को मानव के वास्तविक सुख का विचार है तो व्यक्ति को ऊपर लिखे से कहीं अधिक अधिकार चाहिये। दूसरो के साथ अपने सम्बंध की उसे जानकारी होनी चाहिये और उसे इस योग्य होना चाहिये कि अपने इस सम्बंध से प्राप्त अनुभव को बतला सके। इस कार्य के लिये ज्ञान का होना जरूरी है। इसीलिये शिक्षा प्राप्त करना नागरिकता के मौलिक अधिकारों में से है। बिनाशिक्षा, साधारणतः मनुष्य इस महान संसार को समझ नहीं सकता। वह उस में खो जाता है। अपना सदुपयोग नहीं कर सकता। अपने अनुभवों से प्राप्त जानकारी का आलोचक नहीं बन सकता। वर्त्तमान सभ्यता की विषमताओं में अपढ़ व्यक्ति उस अँधे के समान है जो कारण तथा परिणाम, दोनों की जानकारी नहीं रखता जिस राज्य में नागरिकों को शिक्षा की सुविधा नहीं है, वह राज्य उन्हें अपने व्यक्तित्व को प्राप्त करने के साधनों से वाञ्चित रखने का दोषी है।

किन्तु, केवल शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। मान लीजिये कि एक आदमी ने शिक्षा प्राप्त कर ली, फिर भी राज्य उसे अपने ज्ञान के उपयोग का अवसर नहीं देता। ऐसा अधिकार न मिलने का अर्थ है उससे फायदा उठाने का अधिकार न होना इसलिये नागरिक के अधिकारों की इस दिशा में भी रक्षा होनी चाहिये। इसी दृष्टि से चार अधिकार अनिवार्य हैं—अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता हो, अपने समान विचार रखने वालों से मिलकर अपने में निश्चित उद्देश्य या उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपना संगठन करने की स्वतंत्रता हो; अपने ऊपर शासन करने वालों को चुनने में सहायता दे सकें यदि वह दूसरों को अपने को ही चुनने के लिये राजी कर सके तो वह स्वयं राज्य के शासन में भाग ले।

तात्पर्य यह हुआ कि प्रभावतः कोई भी राज्य तब तक अपने

उद्देश्यों को पूरा न कर सकेगा जब तक वह प्रजातंत्र न हो। और यह प्रजातंत्र ऐसे व्यापक मताधिकार के आधार पर हो जिस में हरेक को भाषण तथा संगठन स्वातंत्रा हो। इतना ही नहीं, उस प्रजातंत्र्य में जाति, धर्म, जन्म (कुल) तथा सम्पत्ति इनके कारण समान नागरिक अधिकार के उपयोग में कोई बाधा न हो। हमने इस बात को केवल इसलिये मान लिया है कि इतिहास साची है कि किसी वर्ग या समुदाय को अधिकार से बाञ्चित कर देने का परिणाम यह होता है कि वे शासन के लाभ से भी बञ्चित हो जाते हैं। जिन लोग के सामने शासन करने वाले यानी सरकार को अपने शासन का अधिकार प्राप्त करने के लिये आना पड़ता है, जिन पर अधिकारियों का अधिकार निर्भर करता है, उन्हीं की आवश्यकताओं को पूरी करती हुई, उस समय की सरकार राज्य के वास्तविक संकल्प या इच्छा को चरितार्थ कर रही है। यह सरकार नागरिकों के जितने अधिक व्यापक क्षेत्र पर निर्भर करेगी (यानी जितना विस्तृ मताधिकार होगा) । उतना ही अधिक सामूहिक आवश्यकताओं पर विचार होगा, चिन्ता होगी हम यह अस्वीकार नहीं करते कि प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में भी कठिनाइयाँ अन्तर्निहित हैं। किन्तु, किसी प्रकार की राजनैतिक दार्शनिकता बिना यह स्वीकार किये हुए कि नागरिकों को अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति का समान रूपेण अधिकार है, व्यक्ति की एतसम्बंधी माँग को पूरा करने का दावा नहीं कर सकती। और उनकी इच्छाओं का राज्य के संकल्प पर अनवरत रूप से प्रभाव पड़ने के लिये एक मात्र उपाय यही है कि राज्य की सरकार, वैधानिक सिद्धान्त द्वारा उनकी सम्मति से काम करे—उनकी उपेक्षा न कर सके।

भाषण तथा संगठन स्वातंत्र्य के सम्बंध में एक शब्द कह दूँ। राज्य में इससे ज्यादा जरूरी चीज और कुछ नहीं है कि नागरिक राज्य की समस्याओं के विषय में स्वतंत्रता पूर्वक अपना विचार प्रकट कर सकें तथा जिस उद्देश्य पर वे एक सम्मति हो जांय, उसे पूरा करने के लिये

एक साथ मिलकर काम करने की स्वातंत्रता उन्हें प्राप्त हो। यदि उसके लिये उनको दण्ड मिलेगा तो मान लिजिये, उनके अनुभव का कोई लाभ न उठा सकेगा। राज्य अपने प्रतिकूल विचारों को दबा देगा। उसकी समझ में अवाँछनीय काम करने वालों के संगठन को रोक देगा। कारण, अनुभव दूसरी चीज है और आत्मानुभूति के लिये यह आवश्यक है कि उसके परिणाम से लाभ उठाया जाय। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि किसी राज्य की स्थिति का सबसे अच्छा अनुमान इसी सेल गाया जा सकता है कि वह अपनी कानूनी हिदायतों, वैध आवश्यक कर्त्तव्यों को लागू करने के समय विरोधी विचार तथा विरोध के प्रति कितनी साहिष्णुता दिखलाता है। विचारों को कुचलने का प्रत्येक प्रतत्न इच्छा की पूर्ति को ही स्वीकार करने की चेष्टा है। यह एक ऐसी चेष्टा है जिससे गण्यमान अनुभव को सीमित कर दिया जाय। इससे राज्य के कार्यों से समुदाय के केवल एक ही अंग का कल्याण होने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

हम यह भी नहीं कह सकते कि ऐसी स्वातंत्रता का अधिकार असीमित है। राज्य का काम है व्यवस्या रखना, अतः उसे इसका ध्यान रखना है कि शान्ति कायम रहे। इसलिये, उसे यह कहने का अधिकार है कि यदि कोई ऐसी बात कही जावेगी जिससे प्रत्यक्षतः तुरन्त अशान्ति या उपद्रव करने के लिये भड़काया जाता है तो वह दण्डनीय होगा। इसी प्रकार यदि कोई संगठन सुव्यवस्था में व्याघात उत्पन करने वाला है, तो वह भी दण्डनीय होगा। इन कारणो से राज्य किसी पुस्तक या पर्चे को नहीं दबा सकता; पर उस व्याख्याता को दण्ड दे सकता है जो ट्रफलगार स्क्वायर मुहल्ले में उत्तेजित जनता को अपने भाषण से बृटिश सरकार के प्रधान मंत्री के निवास स्थान डाउनिंग स्ट्रीट पर आक्रमण करने के लिये उकसाता है। वह स्वर्गीय टाल्सटाय के पद पर चलने वाले अराजओं की संस्था को जो नहीं "दबा सकता इस लिये कि व्याख्या के अनुसार, उनके सिद्धान्त हिंसा से मेल नहीं खाते किन्तु, उसे अधिकार होगा कि अल्सटर (उत्तरी आयरलैण्ड) के

स्वयं सेवक दल ऐसे संगठन को कुचल दे जो राज्य के आदेश की अवज्ञा में शक्ति के उपयोग के लिये संगठितहुआ है। समाज की शान्ति के लिये जिस सीमा तक आशंका होती है, वहीं तक स्वाधीनता की सीमा होती है। जहां ऐसी कोई आवश्यकता नहीं होती, राज्य का हस्तक्षेप अधिकार का अपहरण होता है।

हम उन अधिकारों को भी नहीं भूल सकते जिनके द्वारा व्यक्ति के निजी विकास के लिये आवश्यक हितों की रक्षा होती है मनुष्य को अधिकार है कि वह जिस प्रकार का धार्मिक विश्वास चाहे, रखे। जब तक उनका धार्मिक—व्यवहार सार्वजनिक शान्ति में प्रत्यक्षतः बाधक नहीं होता, राज्य को उसके बीच में बोलने का अधिकार नहीं है। उस व्यक्ति को न्याय के सम्पूर्ण संरक्षण का अधिकार है। न्यायतः उसे यह अधिकार है कि उसके विरुद्ध लगाये गये अभियोग प्रमाणित किये जाँय, बिना बाकायदा वारण्ट के उसके मकान की तलाशी नहीं हो सकती, अदालत में शरण लेने पर, अदालती खर्चे इतने ज़्यादा न हों कि गरीब आदमी की वहां तक पहुँच भी न हो पावे। यदि ऐसा नहीं है तो व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं है। व्यक्तित्व के हित में ही उसकी एक स्वाधीनता सीमित है और वह यह कि अपने पड़ोसी के सम्बन्ध में आपत्ति जनक बातें तभी कही जाँय जब (१) उन आक्षेपों का सबूत हो तथा (२) उसे सार्वजनिक रूप से कहना सबके हित की बात हो।

नागरिकों के प्रति समुचित व्यवहार के आश्वासन के लिये, राज्य में अधिकारों की कुछ ऐसी प्रणाली आवश्यक है। बिना इनके मानव स्वतंत्र नहीं होगा। बिना इनके वह अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करने में इतनी बाधायें में पायेगा जिनसे वह कदापि आत्मानुभूति नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक इस प्रकार के अधिकार सार्वजनिक न हों, मानव दूसरों के समान होने का, बराबरी का पद प्राप्त करने का विश्वास नहीं कर सकता। जिस समाज में ऐसे अधिकार सीमित संख्या वाले ही

भोग सकते हैं, वहां पर ऐसे सीमाकरण का उद्देश्य चाहे जो भी हो, राज्य के कार्य से लाभ उठाने वाले अधिकारी वर्ग की रचना हो जाती है और इस बर्ग की एक सीमा बन जाती है।

अधिकारों के इस भाव में, मूल तत्व यह है कि किसी भी नागरिक को, राज्य का एक नागरिक होने के नाते अपनी माँग की पूर्त्ति के लिये किसी दूसरे नागरिक से अधिक अधिकार यानी हक़ नहीं है। जिस राज्य-प्रणाली में, वैध आवश्यक कर्त्तव्य नागरिकों के वर्गों के लिये भिन्न भिन्न होते हैं, पृथक रूप से लाभ पहुँचाते हैं, वहाँ राज्य के ध्येय की ही हत्या होती है, और जब तक यह न सिद्ध कर दिया जाय कि अधिकारों का ऐसा पृथक्करण जनसमूह के कल्याण के लिये है, राज्य का लक्ष्य ही समाप्त हो जाता है जिस राज्य में मानव की पृथक माँगों की भिन्न रूपेण पूर्त्ति की प्रणाली को संरक्षण मिलता है, उसे यह साबित करना पड़ेगा कि ऐसा वैभिन्य सार्वजनिक कल्याण के लिये है।

वास्तव में आधुनिक सामाजिक जीवन की परिस्थितियों की जो भी समीक्षा करेगा, उसे यह मालूम हो जायेगा कि व्यक्तिगत माँगों की पूर्त्ति के लिये कितने भिन्न उपाय करने पड़ते हैं। परिश्रम तथा पुरस्कार में कोई समानुपात नहीं रह गया है। राज्य अपने नागरिकों को जो संरक्षण देता है, उसके समीकारण का भी शायद ही प्रयत्न होता हो। आज-कल के राजकीय निर्देश वर्त्तमान विशेषाधिकारों की रक्षा करते हैं, उसको व्यापक करने का प्रयत्न नहीं होता। समाज का धनी तथा दरिद्र दो अंग तथा वर्ग होता है। राज्य के निर्देश धनी के हित तथा कल्याण में होते हैं। आज हम जिसे "सम्पत्ति" की प्रथा में रहते है, उसमें मानव जीवन को नियंत्रत करने वाला राज्य का निर्देश अर्थात् वैध आवश्यक कर्त्तव्य व्याख्या में एक-पक्षीय हो जाता है। इसके कारण, समाज के भिन्न वर्गों की माँगों की शक्ति को इतना विभिन्न हो जाता है कि डिजरायली को शब्दों में, ये वर्ग एक ही जनसमूह के न मालूम हो कर दो राष्ट्र प्रतीत होते है।

इस बात से राजनैतिक दर्शन यही निष्कर्ष निकाल सकता है कि बिना नागरिकों में भौतिक विभिन्नता को दूर किये राज्य अपने ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकता। गरीब और अमीर में बँटा हुआ राष्ट्र दो टुकड़े वाले मकान के सदृश है। धन से अभिमान पैदा होता है। दरिद्रता से निम्नता आती है। धनी वर्ग चरम सीमा तक अपने अर्थ-लाभ की रक्षा करना चाहता है। दरिद्र वर्ग को उस पर आक्रमण करके उसे प्राप्त कर, उसके द्वारा सुख प्राप्त करने का और कोई मार्ग ही नहीं दीखता। इसलिये राज्य को, यदि अपना ध्येय प्राप्त करना है, तो बाध्य हो कर अपने कार्य-परिचालन को ऐसा संगठित करना होगा कि इस असमानता को कम से कम किया जाय। काम कर लेने की अपनी शक्ति द्वारा वह दरिद्रों की माँग पूरी करने के लिये धनिकों से उनके धन के एवज़ में कर वसूल सकता है। गत पचास वर्षों में, उन्नीसवीं सदी के पुलिस-राज्य का बीसवीं सदी के समाज-सेवक राज्य में परिवर्तन की गति का जो अध्ययन करेगा, उसे मालूम हो जायगा कि सामाजिक असमानता बनाये रखने के लिये, सम्पन्न वर्ग मूल्य चुका कर रियायतें पर रियायतें देना स्वीकार करता जा रहा है। और, ये रियायतें मात्रा में बढ़ती ही जा रही हैं। दरिद्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य या निवास-सम्बंधी सुधार के हरेक कार्य के लिये और अधिक रियायतों की माँग बढ़ती रहती है। लोग यह महसूस करने लगे हैं कि वह सामाजिक प्रणाली दोष पूर्ण है जिसमें परिश्रम तथा उसके पुरस्कार में समानुपात ठीक नहीं बैठता। एक शब्द में, समानता की कामना मानव-स्वभाव का स्थायी अंग है। स्थायी विशेषता है। जिस राज्य में इस कामना की तुष्टि नहीं प्राप्त होती, उसकी सत्ता ही खतरे में होती है। आज राज्य भले ही टाल जाय पर उसे अपने सदस्यों को विश्वास दिलाने का प्रयत्न करना ही होगा कि उसके वैध आवश्यक कर्त्तव्य केवल रुप में ही नहीं, तत्वतः भी, सर्व-साधारण के लिये समान रूप से न्याय करने वाले हैं।

कुछ पहले मैंने जिन अधिकारों के सम्बंध मे अपने विचार प्रकट

किये थे, उसी सिलसिले मे कुछ सम्बंध द्योतक बातें कहना चाहता हूँ वैध निर्देशों की कोई भी प्रणाली स्थायी नहीं रहती दिन प्रति दिन इसका भिन्न प्रायः नयी परिस्थितियों में उपयोग करना पड़ता है । आज राजनैतिक दासनीयता की यह साधारण सी बात है कि जो लोग आज्ञाओं को कार्यरूप मे परिणत करतें हैं, वे ही वास्तव मे उसके स्वामी हैं । आज्ञा देने वाले हैं । वैध निर्देशो की व्याख्या करनी पड़ती है भाषण स्वातंत्र की सीमा कहाँ तक है । किस दशा में किसी संस्था से राज्य में, समाज के शान्तिमय जीवन में व्याघात उत्पन्न होने की आशंका है, अमुक कानून उचित है या अनुचित उदाहरण के लिये । क्या व्यवसाय संघों की रचना के कारण उनको पार्लियामेंट, प्रतिनिधित्व भी मिलने का अधिकार प्रदान करता है । क्यों संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह काम करने के घण्टों की सीमा बाँध देने से, पारस्परिक समझौता तथा ठीके की स्वतंत्रता में बाधा नहीं पड़ती ? इन पर तथा इनके साथ अनेक समस्याओं पर निर्णय करना होगा हर एक प्रश्न में समाज के स्वार्थों का संतुलन करना होगा । और स्पष्टतः यह सबसे पहला महत्व रखता है कि हम इस विषय में स्पष्ट है कि यह संतुलन किस प्रकार प्राप्त करना चाहिये ।

जिस राज्य में समाज के वर्गों में भौतिक विभिन्नता होती है, उसका ध्येय विपरीत होकर केवल धनी का कल्याण—साधन करता है धनी वर्ग की शक्ति राज्य के प्रतिनिधियों को उनकी इच्छा पर प्रथम ध्यान देने के लिये बाध्य करती हैं वह जिसे अच्छा समझते हैं, वही मूर्खता-पूर्ण भावना शासन के मानसिक वातावरण व्याप्त किये रहती है राज्य के यंत्र पर उनका प्रभाव रहता है न्याय से उनका तात्पर्य उनकी माँगों की पूर्ति है इतिहास से उपदेश से उनका तातपर्य उनके अनुभवों का संकलन है । मिसाल के लिये इङ्गलैण्ड के न्यायधीशों द्वारा व्यवसाय-संघ के कानून की व्याख्या ही लिजिये । औसबोंन के मुकदमे में यह खास तौर से प्रकट हुई है आपको बिना कठनाई के मालूम हो जायेगा कि मध्यम-श्रेणी के वर्ग द्वार परिचालित राज्य के न्यायाधीशो का मस्तिष्क मजदूर

श्रेणी की आवश्यकता को नहीं समझ सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका के १४ वें संशोधन का इतिहास पढने वाला अनायास कह बैठेगा कि वहां की अदालतों ने सामाजिक-विधान के विकास के विरुद्ध व्यवसायी वर्ग के संघर्ष में, इस समाज का शास्त्र बनने का काम किया है। हाल ही में, फिनलैण्ड में मताधिकार में जो परिवर्त्तन हुये हैं वे केवल इस लिये कि व्यवसाय सघों की शक्ति को इतना और न कर दिया जाये कि मालिक मजदूरों की मजदूरी घटा सके और इसी ध्येय से राज्य का शासन विधान ही जानबूझ कर बदल दिया गया है अधुनिक जगत में ऐसा बहुत कम होता है कि ऐसे नग्न रुप में जबर्दस्ती प्रजातंत्रीय प्रणाली में प्रति क्रियावादी परिवर्त्तन किया जाये।

मेरा तात्पर्य यह है कि राज्य का ध्येय प्राप्त हो ही नहीं सकता यदि उसके सदस्यो में अपनी माँगों की पूर्ति कराने की क्षमता में घोर अन्तर हो। ऐसा अन्तर आर्थिक रचना के कारण ही होता है। इस दृष्टिकोण से राज्य के वैध निर्देश कार्य रूप में केवल नियमेन न्याय होते हैं। हरेक व्यक्ति तथा वर्ग को यह पूरा अधिकार है कि वह अपने मन में निश्चय करे कि वे वैध या जायज हैं भी या नहीं और वह अपने इसी निर्णय के अनुसार उन पर अमल करे।

इस बात से कानून का ऐसा सिद्धान्त बनता है जो राजनेतिक दर्शन में प्रथम महत्व रखता है। अपने से प्रभावित कर सकने वाली समाज की इच्छा की अभिव्यक्ति का नाम ही क़ानून है। उसे अपने अनुशासन का दावा केवल इसलिये नहीं हो सकता कि वह क्रियात्मक रूप साधारण कर चुका है। यह अनुशासन का दावा व्यक्तिगत नागरिकों के जीवन पर उनके प्रभाव तथा परिणाम पर निर्भर करेगा। यह परिणाम-नागरिक स्वयं समझ सकता है। इसलिये कानून का न्यायत्व या औचित्य नागरिकों के—निर्णय पर ही निर्भर करेगा। अतएव हरेक राज्य को, अपने ध्येय की पूर्त्ति के उद्देश्य के कारण, अपनी संस्थाओं का ऐसा संगटन करना पड़ेगा कि उसके वैध

निर्देशों पर नागरिकों का निर्णय पूरी तरह से मालूम होता रहे और उसी प्रकार उसको तौला जा सके। अन्यथा, इन निर्देशों के परिणाम का पूरी तौर पर पता भी नहीं चल सकेगा। इन निर्देशों से शक्तिशाली नागरिकों को इच्छा की पूर्त्ति ही हो सकती है और चुँकि इस समूह का अनुभव समाज के शेष अंग के स्वार्थ से भिन्न है, अतः उसका समर्थन केवल अपने हित के विचार से एक-पक्षीय होगा। ऐसी दशा में राज्य केवल एक ही कारण से अपने अधिकार के प्रति आदर का दावा कर सकता है—और वह कारण होगा उसके अधिकारों को चुनौती देने के कारण राज्य में उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था। हम स्वीकार करते हैं कि यह बड़ा भारी दावा है। प्रतिरोध के मूल्य (परिणाम) का विचार करते हुए, उसे अंतिमशस्त्र बनाना चाहिये। पर, जिस दृष्टि कोण से हम यहां विचार कर रहे हैं, यह तर्क किया ही नहीं जा सकता कि इस अस्त्र की शरण न ली जाये राज्य नियम या कानून का प्रतिरोध करना, उनकी अवज्ञा करना समाज की वह संचित-शक्ति है जिसके द्वारा जिनकी माँगों को राज्य अस्वीकार करता रहा है, वे न्यायतः राज्य के भीतर काम करने वाली शक्तियों के संतुलन में परिवर्त्तन करने की चेष्टा कर सकते हैं।

इसलिये क़ानून तभी अनुशासन का दावा कर सकता है जब परिणामों के अनुभव से उसका औचित्य मान लिया गया हो। व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अपने अनुभवों से किसी निष्कर्ष या नियम पर पहुँचता है और उस निर्णय को उसे मानना चाहिये। ऐसे निर्णय तथा राज्य के नियम में केवल यह अन्तर है कि राज्य अपने नियम का शक्ति पूर्वक पालन करा सकता है। राज्य के बनाये नियमों के पीछे केवल शक्ति का आधार होता है। और शक्ति स्वतः नैतिकता से रहित पदार्थ है। इसलिये जब राज्य का किसी धार्मिक सम्प्रदाय या व्यवसाय संघ या कम्यूनिस्ट पार्टी ऐसी संस्थाओं से मतभेद या संघर्ष होता है, उसे अपने प्रति भक्ति का कोई प्रारम्भिक दावा नहीं होता

यह दावा उन लोगों के विचार पर निर्भर करता है जिनका इस संघर्ष से सम्बंध है। राज्य तभी विजय का अधिकारी होगा जब वह अपने नागरिकों को यह साबित कर देगा कि उसके नियमोंसे जनता के जीवन को सम्पूर्णता उपलब्ध होगी। अपने सदस्यों के जीवन को वह जैसा बनायेगा, उसीसे उसके प्रभुत्व की मर्यादा बनेगी।

इस दृष्टि कोण के सम्बंध में अनेक कारणों से आपत्ति की जाती है। कहा जाता है कि सामाजिक संस्थाओं को पूर्णतः सुसम्बद्ध रूप में व्यक्ति करने वाला यह कोई निर्दोष सिद्धान्त नहीं है। इससे केवल अराजकता को ही स्थान नहीं मिलता, इससे तो ऐसा भी आभास मिलता है कि किन्हीं दशाओं में अराजकता भी उचित है। राज्य के प्रभुत्व को एक जायज व्यस्था स्वीकार करते हुए भी यह तुरन्त उसको केवल नियमित महत्व देता है। वास्तव में यह राज्य को, समाज की अन्य संस्थाओं के बीच अपने प्रति भक्ति के लिये प्रतिस्पर्द्धी बना देता है। और ऐसे संघर्ष में वह राज्य को विजय का कोई आश्वासन नहीं देता। इसके द्वारा राज्य का कानून न्याय से बिलकुल अलग कर दिया जाता है। राज्य के दार्शनिक लक्ष्य की व्याख्या करते हुए भी यह अस्वीकार किया गया है कि उसके कार्य-परिचालन में यह लक्ष्य अन्तर्निहित है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह उपर्लिखित आपत्तियों की भी गुञ्जायश रखता है। किन्तु, मैं पूछता हूँ कि ये कोई आत्तियाँ महत्वपूर्ण हैं? जीवन स्वार्थ बड़ी विषम वस्तु है और इसके अनेक पहलू हैं। इन सबको एक सिद्धान्त में हल नहीं किया जा सकता। उस राज्य में अराजकता होगी ही जिसमें मनुष्य पराच्चर विरोधी इच्छाओं की पूर्ति के लिये भिन्न दिशाओं में प्रयत्नशील होगा। कोई नहीं कह सकता कि राज्य की आज्ञा मानने से अस्वीकार करना सदैव अनुचित है। यह सत्य है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का प्रभुत्व केवल नियमतः स्थापित वह आधार है जिससे सब कुछ सम्बंधित है। किन्तु, इससे अधिके उसे मानना उसको हरेक कार्य

को चिरस्थायी बुद्धिमाता का प्रतीक मानना होगा पर, राज्य के सम्बंध में हमारा अनुभव इसके विपरीत है। यह सच है कि राज्य को समाज की अन्य संस्थाओं के मुकाबले में, नागरिकों की श्रद्धा तथा समर्थन प्राप्त करने के लिये होड़ लगानी पड़ती है। पर, क्या यह सत्य नहीं है कि वह ऐसी प्रतिस्पर्द्धा करता है। जो भी कोई बिस्मार्क और रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बीच झगड़े का इतिहास पढ़ेगा, या आयरलैण्ड की सिन फेन पार्टी और ब्रिटिश सरकार, आस्ट्रेया की पुरानी सरकार तथा इटालियन प्रजा के बीच के झगड़े या जार के रूस तथा तत्कालीन रूसी क्रान्तिकारी संस्थाओं के बीच संघर्ष के इतिहास का अध्यापन करेगा, उसे यह स्पष्ट हो जायगा कि कोई भी राज्य या राजसत्ता तब तक नहीं टिक सकती जब तक उसके सदस्यों की माँगे पूरी न हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में "मादक द्रव्य निषेध" समबंधी कानून का जो परिणाम हुआ तथा उससे जो अनुभव हुए, वे साफ तौर पर यह जाहिर करते हैं कि राज्य अपने निर्देशों को पूरी तौर पर तब तक लागू नहीं कर सकती जब तक उन लगों पर, जिन पर वह लागू किया गया है, उसका औचित्य न प्रकट हो जाय।

कहा जाता है कि मेरे बतलाये सिद्धान्त में कानून और न्याय अलग चीज हो जाते हैं। इन दोनों में भेद जरुर हो जाता है, पर यह वैसा ही भेद है जैसा हम अपने जीवन में किया करते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक कानून अन्याय पूर्ण है, हम स्वीकार करते हैं कि कानून और न्याय में अन्तर है। वह तभी न्याय पूर्ण होगा जब हम उसे ऐसा माने। संक्षेप में, कानून स्वतः तटस्थ है। उसे न्याय पूर्ण होने की विशेषता या गुण उसके मानने वाले ही देते हैं। नियम अथवा कानून का काम है लोगों की मांग पूरी करना। इस कार्य को पूरा करने में उसकी सफलता पर ही उसका नैतिक औचित्य निर्भर करता है। उदाहरण के लिये, हम यह नहीं कह सकते कि केवल पुरुषों को मताधिकार देने वाला नियम न्याय पूर्ण है इस लिये कि स्त्रियाँ उसे अन्याय

पूर्ण कहती हैं। हम सन् १९२६ का ब्रिटिश व्यवसाय संघ कानून इस लिये न्याय पूर्ण नहीं कह सकते कि सभी व्यवसाय संघ उसे एक वर्गीय नियम कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं। ये सभी नियम है, कानून हैं, विधान के अंग हैं। इनको कानून बनाने की नियमतः शक्ति रखने वालों ने बनाया है पर इनमें से कोई भी उस समय तक न्याय-युक्त नहीं है जब तक उनके फल को भोगने वाले ऐसा न समझें।

हमको इस दलील से प्रभावित नहीं होना चाहिए। कि राज्य-सम्बन्धी हमारे दृष्टिकोण के अन्तर्गत राज्य की रचना का दर्शानिक महत्व तथा उसकी दर्शानिक सत्ता आती ही नहीं। यह भी सत्य है। क्या मानव-जीवन ऐसी स्थिति में है कि वह अपने स्वभाव से उत्पन्न समूची शक्तिमत्ता को प्राप्त कर सकता है, चरितार्थ कर सकता है? क्या राज्य उसे ऐसी अधिकार-योजना देगा, जिसके बिना, जैसा मैंने दिखलाने का प्रयत्न किया है, ऐसी अनुभूति असम्भव है। राज्य की असलियत जानने का इसके अलावा दूसरा तरीका नहीं है। कोई भी व्यक्ति ईमानदारी से नहीं कह सकता कि सन् १७८६ के पहले का फ्राँसीसी राज्य या सन् १९१७ के पहले का रूसी राज्य ऐसे वैध निर्देशों तथा आवश्यक कर्तव्यों को लेकर चलते थे जिनका लक्ष्य समूची प्रजा का कल्याण करता रहा हो तथा उनकी जनता भी यही मानती रही हो कि उन निर्देशों का लक्ष्य जन-कल्याण की तलाश है। यदि यह उत्तर मिलता है कि राज्य की नीयत को अच्छा मानना ही चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि वह जो कुछ करता है, अच्छा से अच्छा काम करने की नीयत से करता है तो मेरा उत्तर केवल यही होगा कि इसका निर्णय वे ही कर सकते हैं जो राज्य के कामों का फल भोगते हैं। सन् १७८६ में फ्रेञ्च जनता ने तथा सन् १९१७ में रूसी प्रजा ने यह निश्चय किया कि जिस प्रणाली में वे रहते हैं, वह उनकी उचित तथा वैध माँगों की पूर्त्ति नहीं कर सकती। मैं नहीं जानता कि

ऐसा निर्णय और किसी अन्य उपाय से कैसे बदला जा सकता है या ऐसे निर्णय को कैसे रद्द किया जा सकता है।

जाहिर है कि औचित्य के विचार से राज्य के वैध निर्देश, जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाये जाँय, उसी की भावना को लेकर उनकी रचना हो। यदि राज्य से हम ऐसी आशा करते हैं तो शासन एक धरोहर मात्र है और यह धरोहर किस सीमा तक सम्हाल कर रक्खी गई, इसका फैसला वे ही कर सकते हैं जो शासन के कार्य परिचालन से लाभ की आशा करते हैं।

अन्ततोगत्वा, कोई भी सरकार कुछ व्यक्तियों का एक समुदाय है जो राज्य के नाम पर अपने सह-नागरिकों को हुक्म दे रहा है। इनके हाथ में इस शक्ति का बना रहना उनके बुद्धिमता पूर्वक हुक्म देने पर निर्भर करेगा अधिक या लघु गुरुत्व की अनगिनत माँगों से वे घिरे रहते हैं और ये सभी माँगें उनसे अपनी पूर्त्ति की आशा करती है। शासन तथा शासक के रूप में, उनके कार्यों की बुद्धिमानी अधिक से अधिक की माँग पूरी करने की योग्यता पर निर्भर करेगी। अधिक से अधिक माँग पूरी करने के लिए यह जरूरी है कि वे अपनी प्रजा के दिल और दिमाग़ से जितनी ज्यादा जानकारी रक्खेंगे, उतना ही अधिक वे उचित नीति का निश्चय करने के तह तक पहुँच सकेंगे। इसीलिए समाज में स्वतंत्रता तथा समानता अपना महत्व रखती है। स्वतंत्रता के द्वारा ही माँगों की रूपरेखा तय्यार होती है और वे पेश की जाती हैं, समानता हमें यह विश्वास दिलाती है कि इन माँगों की निष्पक्ष रूप से नाप जोख होगी।

अधिकारों की जिस प्रणाली का मैंने वर्णन किया है, यदि वे क्रियात्मक रूप से राज्य में चालू हैं, तो वहाँ स्वतंत्रता और समानता रहेगी ही। किन्तु यदि मनुष्य सामाजिक प्राणी है तो यह भी सत्य है कि राजनैतिक दृष्टि से वह परम्परागत गतिहीन जीव है। बिरले ही, व्यक्तिगत-

रूप से, वह अपनी शक्ति को जानता है। इससे भी अधिक बिरले ही, व्यक्तिगत रूप से ही, ऐसी शक्ति का बोध होने पर भी, अपनी आवश्यकताओं के प्रति ध्यान आकर्षित कर पाता है। इस युग के राज्य की विशालता में उसकी आवाज़ जंगल में रुदन के समान है। अपने विचार के लोगों के साथ मिल कर संगठित हो जाने पर ही वह अपनी माँगों को सबल कर सकता है और तभी इनका प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए संगठन प्रारम्भिक महत्व रखते हैं। इनके द्वारा ऐसे अनुभवों की विशेषता पर सब प्रकट होती है जिन पर अन्यथा ध्यान भी नहीं दिया जा सकता था। आकाश के नीचे अपने लिए भी स्थान बनाने का मानव का स्वतः-कृत प्रयत्नों की जानकारी ऐसी माँगों से होती है। ऐसे कभी प्रयत्न या अनुभव राज्य के काम के नहीं होते। उदाहरण के लिए, क्रिकेट क्लब में कोई राजनैतिक प्रसङ्ग नहीं होता। किन्तु अनेक संस्थाओं अथवा संगठनों की सफलता अपने प्रयत्नों को राज्य के नियम यानी कानून में परणित करने पर निर्भर करती है। मिल मालिक संघ, व्यवसाय संघ, राष्ट्रीय थियेटर (नाटय कला प्रदर्शन) को उन्नत करने वाली संस्था—सभी यह प्रयत्न करते हैं कि उनकी इच्छा राज्य की इच्छा (संकल्प) का एक अंग बन जाय। उनकी स्वत्ता की उपयोगता इसी पर आधारित है कि राज्य के वैध निर्देशों में उनका भी स्थान हो।

स्वतः बनी हुई संस्थायें सदस्यों को आवश्यकताओं की पूरी करने की शक्ति के बल पर ही जीवित रहती हैं। राज्य उनको जीवन नहीं प्रदान करता। अक्सर वे राज्य की उपेक्षा के बावजूद भी जीवित रहती हैं— जैसे सन् १८२४ के पहले ब्रिटिश व्यवसाय संघ मानव के अनुभवों से ज्ञात आवश्यकताओं को वे आप से आप अभिव्यक्त करती रहती हैं। और समाज का जीवन इतना विस्तृत है कि अगर उचित हो तो भी, केवल राज्य द्वारा वह नियंत्रित अथवा शासित नहीं हो सकता, अतएव समाज का बहुत कुछ सञ्चालन इन संस्थाओं द्वारा

होता है। अवश्य यह तर्क हो सकता है कि जिस समाज में भिन्न प्रकार के जितने अधिक सामुदायिक जीवन हैं, उतनी ही अधिक समुचित मात्रा में उसकी इच्छाओं की पूर्त्ति होगी। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राज्य जितना कम इन संस्थाओं के जीवन में हस्तक्षेप करता है, उतना ही अधिक दोनों का—राज्य तथा संस्थाओं का कल्याण होगा। इन संस्थाओं अथवा संगठनों के ऊपर केवल नाम मात्र का तथा बिना हस्तक्षेप का प्रभुत्व रहे। राज्य यह स्वीकार करे कि उन्हें अपनी सत्ता रखने का स्वतः सिद्ध अधिकार है। राज्य यह स्वीकार करे कि जीवन के ऐसे पहलू भी हैं। जैसे धर्म, जिनमें उसका अपनी महत्ता पर जोर देना सामाजिक हानि करेगा। क्योंकि जहाँ तक मौलिक विश्वासों का सम्बंध है, नागरिकों ने मिलकर अपने मन से, अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिये जो संस्था बना रखी है, उसके सामने राज्य का हुक्म खोखला और अर्थरहित होगा। इस सम्बंध में, राज्य के प्रभुत्व में वैसी भावुकता का ओज नहीं होता जिससे वह प्रभावशाली तथा सफल भक्ति या अधिकता प्राप्त कर सके।

इससे यह भी प्रकट होता है कि स्वभावानुसार, हरेक समाज तह में संघशील होता है। राज्य भी, अपने नियमित कानूनों के अतिरिक्त, अन्य संस्थाओं के समान है, उनमें से एक है। उनके ऊपर नहीं है। अन्य संस्थायें अपने सदस्यों के लिये जो निर्देश जारी करती हैं, उनके साथ रचनात्मक सम्बंध होने के कारण ही राज्य के वैध निर्देश सफल होते हैं। राज्य को चाहिये कि समाज की अधिकतम सन्तुष्टि करने वाली माँगों को समझकर, जानकर, उनके अनुकूल नियम बनाये-कानून बनाये। और वह तभी ऐसा कानून बनाने का प्रयास करे जब उसे उस कानून के कार्यरूप में परिगत होने पर जिन लोगों पर असर पड़ने वाला है, उनकी सम्मति भी प्रतिनिधि रूप में ठीक से प्राप्त कर ली जाय। क्योंकि सफल कानून, प्रायः सदैव वही होता है जिसके प्रयोग के समय, शासन के लिये उपलब्ध अधिकतम अनुभवों का समुच्चय

हो। उदाहरण के लिये, यह सभी को मालूम है कि ब्रिटेन में स्वास्थ्य के बीमा की महान योजना की सफलता इसीलिये है कि योजना बनाने के पहले, पग पग पर मेडिकल असो-शियसन्स तथा अन्य स्वीकृत संस्थाओं से परामर्श किया गया। कोई कानून इसलिये सफल है कि शासन के हर पहलू से, उसके सम्बंध में अनुभव रखने वाले तथा उसके प्रभाव में आने वाले लोगों को उसकी उपयोगता का विश्वास दिला दिया गया है। ऐसे विचार विमर्ष से यदि तत्सम्बंधी वर्ग की स्वीकृति न भी प्राप्त हो तो भी उन्हें यह सन्तोष रहता है कि निर्णय के पूर्व उनके ज्ञान का उपयोग किया गया, उससे लाभ उठाया गया। तथा उनके अनुभव की नाप-तौल हुई। संकल्प की छाप राज्य ही लगाता है, पर छाप लगाने के पूर्व की क्रिया सम्बंधित नागरिकों को ऐसा बोध नहीं होने देती कि राज्य उनसे ऊपर है या उनके विरुद्ध है। कानून बनाने की क्रिया में सक्रिय तथा अन्तरंग भाग लेने के कारण नागरिकों में रचयिता की भावना आ जाती है।

मेरा कहना है कि इस उदाहरण से एक महत्वपूर्ण सत्य का पता चलता है। चूंकि समाज मूलतः संघशील है, इसलिये क़ानून का चेतावनी देने वाला स्वरूप जितना ही केवल जाहिरा रहे, उतना ही समाजके लिये कल्याणकर होगा। भिन्न स्वार्थों के समुदायों में—जिनको हम संस्था में कहते हैं, राज्य की प्रणाली से जितना ही अन्तर्संम्बधित होंगे, उतना ही अधिक मुअस्सिर उस बनाये जाने वाले कानून का तत्व ही न होगा, बल्कि कानून बन जाने पर उसका कार्य रूप परिणत होना भी। हमको यह मान लेना चाहिये कि कोई भी सरकार, जो वैधानिक रूप से चुनी गई है, जब तक सरकार है अपने निर्णय करने के अधिकार को छोड़ने को तय्यार होगी। किन्तु, कोई भी सरकार इस प्रकार से वैसी सरकार नहीं रह सकती जो अपने नागरिकों को विश्वास दिलाती रहती है कि वह उनकी माँगों को पूरा करने में प्रयत्न शील है। और, समाज़ में स्वयं संगठित सस्थाओं का स्थान

तथा कार्य मान लेने पर, उपर्लिखित विश्वास उत्पन्न करने का सबसे अच्छा तरीका है कि शासन की क्रिया से इनका प्रत्यक्ष और आन्तरिक सम्बंध स्थापित किया जाय। अपने जीवनसे सम्बंध रखने वाली चीजों में परिवर्त्तन करने के समय जिन लोंगों से सलाह नहीं ली जाती, वे उस परिवर्त्तन के औचित्य के सम्बंध में वैसा विश्वास कर ही नहीं सकते। उसकी सम्भावनाओं के सम्बंधमें उनका वैसी अच्छी धारणा नहीं हो सकती। इनसे कहीं अच्छी धारणा उनकी होती है जिनके अनुभव की बात अस्वीकार कर दी गई हो, फिर भी जिनको यह संतोष होता है कि उनके तत्सम्बंधी दृष्टिकोण को जानने का सच्चा प्रयत्न किया गया है। आजकल की सरकारों की असफलता का एक बड़ा कारण यह भी है वे समाज की संस्थाओं के स्वार्थों के विपरीत चलने लगती हैं और अपनी प्रगति में उनको भी अपना अङ्ग बना कर नहीं ले चल सकतीं।

इस अनुमान से एक दूसरा सिद्धान्त मालूम होता है, और इस दूसरी सिद्धान्त के महत्व को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। चूँकि समाज का स्वभाव संघशील है, अतः राज्य में शक्ति जितनी ही विस्तृत रुपेण विकरित होगी, उतना ही उसका कार्य परिचालन सफल होगा। तीन मौलिक कारणों से ऐसा होना चाहिये। सबसे पहली बात तो यह है कि जितने ही अधिक आदमियों को कानून के परिणाम के प्रति जिम्मेदारी होगी, उतना ही अधिक वे उसके परिणाम में रुचि लेंगे। अत्यधिक केन्द्रीभूत सत्ता वाले राज्य में आज्ञा पालन स्यात् ही रचनात्मक या परिणाम दायक होता है। प्रजा, यंत्र की तरह, गतिहीन रूप से निर्देशों का पालन करती है। और आवश्यक अवसरों पर, या आपत्काल में जिस जिम्मेदार सहयोग की जरूरत होती है वह जरूरत के वक्त नदारद पाया जाता है। केन्द्री करण—अधिकार के केन्द्रीकरण से ऐसी एक-साँ सूरत पैदा होती है, ऐसा समीकरण हो जाता है कि उसमें समय तथा स्थान की प्रतिभा का अभाव होता है यह दूसरी

बात हुई। उसके केन्द्रीकरण) कार्य परिचालन के तराजू में अनुभव को तौलने में बड़ी कठिनाई होती है। क्यों कि असफलतः का मूल्य इतना मँहगा पड़ता है कि शासक सभी बातों की ओर आकृष्ट नहीं होता। ऐसे शासक का पहला वसूल होता है कि कम से कम भूल करें। अन्त में केन्द्रीकरण का अर्थ यह होगा कि शासन में समय की (समयाभाव की) समस्या का कोई हल नहीं निकाला जा सका। मंत्रिमण्डल या व्यवस्थापक सभा में ऐसी संस्था में दिन में कुछ निश्चित घन्टे तक ही काम कर सकती हैं। केन्द्रीभूत प्रणाली में, अनगिनत समस्याओं तथा भिन्न कार्यों से लदे रहते हैं। इस दबाव का मतलब यह होता है कि बहुत सी ऐसी जरूरी चीजें जिन पर ध्यान देना चाहिये, कभी नहीं देखी जाती और प्रायः जिस बात पर पूरी तौर से विचार करना चाहिये, वह जल्दी से ही तय हो जाता है। ब्रिटेन की राजनैतिक संस्थायें, इस समय, ऐसी परिस्थित के खतरे की एक मात्र मिसाल हैं। जो पार्लामेन्ट भारतवर्ष के शासन के लिये जिम्मेदार थी, साधारण तौर पर साल में केवल दो दिन उस पर विचार कर सकती थी। और मंत्रिमन्डल, साधारण सभा हाउस (आफ कामन्स) में पेश होने के कुछ ही घन्टे पहले बजट वार्षिक आय व्यय का चिट्ठा) देख पाता है;

आज के सौ वर्ष पूर्व अधिकार का केन्द्रीकरण उतना खतरनाक नहीं था जितना कि आज है। केवल इस लिये कि उस समय राज्य का कार्य-विस्तार आज से कहीं छोटा था। आज तो, हमारी तरह ब्रिटेन के समान) सामाजिक जीवन के हर कोने में उसकी लम्बी अंगुलियाँ पहुँच जाती हैं—आज तुम और लचीली कार्यवाही अनिवार्य है। पर, मेरी सम्मत्ति में, ऐसे विकेन्द्रीभूत राज्य को ही सिद्ध करता है जिसमें उसके कार्य पर्याप्त रूपेण सुसम्बद्ध होते हैं। विकेन्द्रीकरण की समस्या का केवल भौगोलिक रूप ही नहीं है। अवश्य यह जरुरी है कि लन्दन, मैंनचेष्टर' न्यूयार्क, बर्लिन और पेरिस स्थानीय

मामलों में केन्द्रीय सरकार के प्रति पूरी तरह से जिम्मेदार होते हुए भी, स्वतंत्र रहें, और कोई नया काम स्थानीय हित के लिए करने में उनको अपनी सरकार से आज्ञा न प्राप्त करनी पड़े। पर, यह समस्या मौलिक है। समान स्वार्थ वाले समुदाय, जैसे वस्त्र का उपयोग, अपने समुचित शासन के लिये वैसे ही शासक संस्थाओं की आवश्यकता रखते हैं जैसे कोई दूसरा नगर—एक ऐसा भी क्षेत्र है जिसमें समुचित सरक्षणों के अन्तर्गत, उनको अपने अनुशासनके लिये वैसा ही नियम बनाना पड़ता है जैसा कि वियना या कोइ दूसरा नगर अपने लिये बनाता है। सभी नियमों तथा कानूनों को सीमित क्षेत्रों के लिये बनाना यानी न्यायशास्त्र को सीमाबद्ध करना समाज के अन्तर्गत काम करने वाले हितों तथा स्वार्थों को गलत समझना है। जब तक कि हम, हर समय पर राज्य के वैध निर्देशों को हर संस्था के समुचित हितों से सम्बद्ध न कर दें, वे सफलता पूर्वक काम नहीं कर सकते। आज की सभ्यता की बहुत कुछ बुराई या बीमारी इस कारण भी है, कि राज्य की संस्थायें (प्रणाली) जिस समाज पर नियंत्रण रखने का प्रयास कर रही है उसकी परिवर्त्तन शील परस्थितियों के साथ, विशेष कर आर्थिक मामलों में, गति नहीं रख पाती—दौड़ नहीं सकती।

इस बहस को शायद इस तरह थोड़े में कहा जा सकता है कि राजनैतिक दर्शन में हमारी सबसे पहली आवश्यकता है आज राज्य के लिए ऐसा सिद्धान्त बनाना जिससे विधान के निरन्तर समाजीकरण का प्रयत्न होता रहे। आधुनिक राज्य के वैध निर्देश जिस आधार पर बने हैं, वही उसकी कमजोरी है। हर सामाजिक योजना की तरह आज का राज्य न्याय की एक भावना पर संगठित है। पर, वह भावना व्यक्ति को ही सम्पत्ति का स्वामी समझती है। राज्य उसकी रक्षा को ही अपना सबसे बड़ा काम समझता है। वह १८ वीं सदी की भावना का प्रतीक है, निरंकुश शक्ति के आक्रमण से अपनी रक्षा करने की सम्पत्तिवान की कामना है। इस भावना से जो स्वाधीनता तथा

समानता प्राप्त हुई थी, वह सम्पत्ति के स्वामी के लिये स्वधीनता तथा समानता है। इस दृष्टिकोण से जो लोग फ्राँस तथा जर्मनी के नागरिक विधान (सिविल कोड) की परीक्षा करेंगे, वे इन नियमों के तात्विक सिद्धान्तों से शायद ही यह समझ पायेंगे कि इन देशों में ऐसे नर-नारियों की बहुत बड़ी जनसंख्या थी जिसके पास उसका परिश्रम ही उसकी सम्पत्ति और पूंजी थी। प्रकट तो ऐसा होता है कि इन नियमों में उसे अपने मालिक से पट्टेदारी, साझेदारी या काम का ठीका करने की स्वतंत्रता थी, पर यह एक भ्रममात्र है। जरूरत तो इस बात की है कि हमको समूचे नागरिक समूह के लिए राज्य के वैध निर्देशों द्वारा समान रूप से वास्ताविक अधिकार प्राप्त करना चाहिए।

आज हमारी हालत भी उस युग के प्राचीन रोम की जनता के समान है जिसने विशेष अदालत (पञ्चायत) तथा १२ अंगोंवाला कानून का संरक्षण नहीं प्राप्त किया था। इन दोनों विधानों द्वारा न्याय की भावना की धुरी का अधिक विस्तृत तथा व्यापक करने का प्रयत्न किया गया था। जिस तरह उस जमाने में, बिना भू या गृह-सम्पत्ति के नर-नारी को कानून की रक्षा नहीं प्रात्प थी, उसी प्रकार आज बिना सम्पत्ति या जायदाद वाला नागरिक उन अधिकारों का भोग नहीं कर सकता जो सिद्धान्तः उसे प्राप्त हैं। और चूंकि वह अपने बौद्धिक तथा आर्थिक मुक्ति के प्रति अधिकतम सचेत होता हुआ राज्य से, अधिकारों की स्वीकृत की परिधि में, राष्ट्रीय शिक्षा तथा व्यवसाय संघ ऐसी बातों को मनवा चुका है, अब वह राज्य को बाध्य कर रहा है कि अपनी न्याय शीलता की भावना में, उसके हितों का भी उतना ही ध्यान रखा जावे जितना कि सम्पत्तिवान का रखा जाता है। अवश्य इस मार्ग में बाधायें हैं। उसकी माँगों के सामने जो रिआयातें की जा रही हैं वे वैसे ही पक्षपात-पूर्ण हैं जैसा रोम में सम्मपत्ति-विहीनों के प्रति किया गया था। किसी एक विषय में भी प्रचलित प्रणाली में समान रूप से परिवर्त्तन नहीं हो रहा है। उदाहरण के लिए हमारे

व्यवसाय संघों ने मजदूरों के लिए काम करने की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में जो मर्यादा नियत की है, उसकी आंशिक मर्यादा को राज्य ने जिस प्रकार संरक्षण दिया है, वह वास्तव में मालिक के अधिकारों का उसी प्रकार संरक्षण है। जिस प्रकार प्राचीन रोम की व्यवस्थापक सभा में रोमन सत्तधारियों के बहुमत के कारण वहां के सम्पत्तिवान को प्राप्त हुआ था। प्राचीन रोम, में फ्लैंवियस के समय के पूर्व पांटिफ की सभा ने, कानूनी कार्यों की प्रथा तथा सिद्धान्त को ऐसा रहस्य पूर्ण तथा गुप्त बना दिया था कि साधारण जन उनकी थाह का पता भी नहीं लगा सकता था। उसी प्रकार से हमारे (ब्रिटिश) स्मृति शास्त्र में परम्परा तथा पुरानी परिपाटी मजदूर जमात के विपरीत काम करती है।

यह जरूर कहना पड़ेगा कि रोमन कानून ने जन्मना, साधारण जन की जो अधिकार हीनता थी, उससे आँशिक रूप में उसे छुटकारा दिलाया। वही हमारे साथ हो रहा है। नयी आर्थिक व्यवस्था वैध निर्देशों में तात्विक परिवर्त्तन का संकल्प लेकर ही प्रकट होती है। बिना ऐसे परिवर्त्तन के नयी व्यवस्था हो नहीं सकती। वह राज्य को बाध्य करती है कि उसकी माँगों को स्वीकार कर ले अन्यथा वे वैध निर्देशों में सम्मिलित न किये जाँयेगे। नयी आर्थिक व्यवस्था का अर्थ है व्यापक मताधिकार। व्यापक मताधिकार का अर्थ होता है जनसमूह द्वारा राजनैतिक संस्थाओं से काम लेने की शक्ति पर विजय प्राप्त करना। अवश्य वे इस शक्ति से ऐसा काम लेंगे जिससे उनकी उन आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो जो इसके पूर्व राज्य के स्वभाव के अनुकूल न थीं। उनके शासनाधिकार में वे ही चीजें न्याय का साधारण तथा स्वाभाविक अंग प्रतीत होती हैं जो कि एक पीढ़ी पहले के राजनीतिज्ञों द्वारा असम्भव समझी जाती थीं। नयी व्यवस्था वाले अपनेबहुमत के अनुकूल नियम समाज पर उसी प्रकार लागू करते है जिस प्रकार उनके पहले के लोग अपने लिये करते थे। नियम, नैतिकता तथा धर्म जीवन की नयी राज्य में उसी प्रकार चल पड़ते हैं जिस प्रकार अन्य वर्गों

के शक्तिवान होने पर। पहले की सामाजिक योजना में जिस प्रकार तत्कालीन विचार धारा का आदर होता था, उसी प्रकार, अपनी आवश्यकताओं की बातो में वे आदर की भावना उत्पन्न कराते हैं। जिस वर्ग का राज्य पर आधिपत्य होता है वह केवल अधिकार-च्युत के अपहरण का अधिकार ही नहीं चाहता। वर्त्तमान सोवियत रूस के समान वह यह भी चाहता है कि उसके अपहरण का औचित्य के साथ सामञ्जस्य हो, अपहृत को उन सिद्धान्तों की न्याय शीलता को स्वीकार करना चाहिये जिनके द्वारा उनको अधिकार-च्युत किया गया है। इसी प्रकार, पुराने जमाने में सम्पत्ति पर आक्रमण सबसे बड़ा पाप समझा जाता था। वह समाज उस व्यक्ति को सम्मान पूर्ण तथा आदरनीय समझता था जो अपने बाल-बच्चों को भूखा रख सकता था पर अपने पड़ोसी की सम्पत्ति पर आँच नहीं आने देता था।

आज जो हो रहा है, वह नियम या कानून की प्रेरणा का विस्तार मात्र है। आधुनिक सामाजिक परिस्थिति में, स्वत्वों की जिस योजना को मैंने अन्तर्निहित सिद्ध किया है, उन्होंने नैतिक दावे से बदल कर वैधानिक कर्त्तव्यों का ठोस रूप धारण कर लिया है। इसी उद्देश्य से राज्य जान बूझकर निजी सम्पत्ति को छीन लेता है। जो सुख सुविधा सम्पत्ति रखने वाले को सुलभ थी, बिना राज्य की सहायता के उन सुख सुविधाओं को भोगने वाले के मत्थे राज्य काज उनको जन समूह के लिये सुलभ कर रहा है। आर्थिक शक्ति की सत्ता के सम्बंध में परिवर्त्तित भावना के कारण, नवीन समाज में व्याप्त न्याय की विस्तृत विचार धारा के कारण ही आज अधिकारों की ऐसी अनुभूति हो सकी है तथा उन्हें प्राप्त किया जा सका है।

इस सम्बंध में दो अंतिम बातें कह दी जाँय। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि ऐसा परिवर्त्तन अनिवार्य्य है। न तो हम अवश्य ही इसकी शान्तिमय सफलता पर ही भरोसा कर सकते हैं। पहली बात के बारे में तो हम यही कह सकते हैं कि आर्थिक विकास

के वर्त्तमान रूप का अर्थ होता है जन समूह को अधिकार प्राप्त हो जाना। इस अधिकार परिवर्त्तन से वैध निर्देश एक छोटे से वर्ग की की तुलना में समूह के हितों पर जोर देंगे। पर, यदि किसी अचानक दिशा में—आशातीत रुप में, आर्थिक योजना यकायक पलट जाय तो जिनके हाथ में अधिकार आ जायगा, वे अधिकारों तथा स्वत्वों के तत्व को अपने स्वार्थ में परिवर्तित कर देंगे।

आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन की शान्तिमय सफलता पर हम कदापि भरोसा नहीं कर सकते। न्याय-अन्याय के विषय में आदमी अपने विचारों से चिपटे रहते हैं। आप से आप वे शक्ति को छोड़ने के लिये तय्यार नहीं होते। कानूनी अधिकारी तथा राजनैतिक शक्ति में सम्बंध स्थपित रखने के लिये जो निरंतर रियायतें की जाती रहती है उन्हीं से शक्ति कायम रहती है। जिस शासन विधान में ऐसा सम्बंध नहीं स्थापित किया जा सकता, नयी व्यवस्था अपनी इच्छा को लागू करने के लिये शक्ति से काम लेती है। ऐसे परिवर्त्तन का घातक परिणाम हो सकता है —इसलिये कि नयी सभ्यता इतनी यंत्रीय और विषम है कि बड़े पैमाने पर हिंसा के सामने जीवित ही न रह सके। इसलिये तर्क कहता है कि लगातार सुधारों की नीति बर्त्ती जाय। पर आदमी पूरी तरह से बुद्धि से काम करने वाला प्राणी नहीं है। हमें इस बात का कोई भरोसा नहीं है कि बुद्धिमत्ता की विजय होगी

—

तीसरा अध्याय

राज्य का संगठन

(१)

राज्य के संगठन की समस्या प्रजा तथा नियम के बीच सम्बंध की समस्या है। प्रजा नियमों के बनाने में भाग ले सकती है, इस दशा में भिन्न मात्रा में, राज्य प्रजातंत्र होगा या, बिना प्रजा के भाग लिए नियम उसके ऊपर लागू कर दिये जाँय, जिस दशा में, भिन्न मात्रा में ही, राज्य निरंकुश होगा।

दोनों प्रकार का संगठन अपने शुद्ध रूप में नहीं रह सकता। पूर्ण प्रजातंत्र हरेक विचारणीय विषयों पर समूची जनता से परामर्श करेगा; निरंकुश शासन राज्य में, समूची योजना को स्वयं बनायेगा और लागू करेगा। आज जितने विशाल समुदाय है, उनको देखते हुये दोनों ही बातें इस आधार पर असम्भव मालूम होती हैं।

साधारण जीवन में इन दोनों प्रणियों की खिचड़ी वाला राज्य ही देखते हैं। कुछ समुदायों में, जैसे फ्रांन्स और ग्रेट ब्रिटेन में, प्रजातंत्रीय तत्व की प्रवलता होती है, दूसरे राज्यों में, जैसे रूस और इटली में निरंकुशता* पर जोर होता है। हर प्रकार की शक्तियों का मिल जाना सम्भव होता है। कोई प्रजा तंत्रीय-रुपेण प्राप्त निर्णय निरंकुश सम-शक्तियों की कार्यकारणी-समिति द्वारा रद्द किया जा सकता है। यह भी हो सकता हैं कि स्विटज़रलैंड की तरह. निर्वाचकों द्वारा चुनी गयीं व्यवस्थापक सभा कार्यकारणी पर पूरा प्रभुत्व रखती हो। या संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह, व्यवस्थापक सभा तथा कार्यकारणी दोनों के अधिकारों

---

*जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी, इटली में फ़ासिस्ट शासन था आज प्रजातंत्र है।

का निर्णय अदालत के हाथ में हो जो स्वयं वैधानिक संशोधनों की शक्ति के आधीन काम कर सकती है।

किसी राज्य के वास्तविक स्वरूप का निर्णय उसकी ऐतिहासिक परम्मपराओं पर निर्भर करेगा। उसके जीवन पर, जनता के अनुभवों की जो सुन्दर छाया की छाप होती हैं उसके कारण यह कहना कठिन हो जाता है कि कौनसा प्रकार किससे अधिक अच्छा है। आम तौर पर हम यही कह सकते हैं कि निरंकुश शासन प्रणाली की तुलना में, प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली अधिक उपयुक्त है, कम से कम पश्चिमी सभ्यता के स्वभाव का विचार करते हुऐ। अन्य कमजोरियों के होते हुये भी प्रजातंत्र वैध निर्देशों में की रचना के पूर्व अधिक से अधिक जन समूह की मांग का ध्यान रखा जाता है। इन निर्देशों के कार्य परिचालन की आलोचना ही उनके जीवन का आधार होती है। जिम्मेदारी की भावना को बढ़ा कर जिन प्रयत्नो को बढ़ाती है। इससे राज्य के नागरिकों को केवल निर्णयोंमें भाग लेने की ही भावना नहीं पैदा होती बल्कि उसके तत्वों को प्रभावित करने का अवसर देती है। यह मान लेने पर भी, और अनुभव से ऐसा प्रकट भी होता है कि निरंकुश प्रणाली की तुलना में प्रजातंत्रीय प्रणाली बहुत धीरे काम करती है, और यह भी केवल इस लिये कि उसे भिन्न प्रकार की इच्छाओं को साथ लेकर चलना पड़ता है, ऐसी दूसरी कोई प्रणाली नहीं है जो संस्था के रूप में राज्य के लिये आवश्यक सैद्धान्तिक उद्देश्यों की पूर्ती कर सकें।

पर, केवल यह कह देने से कि राज्य का प्रजातत्रींय रूप होना चाहिये, उसके ऐसे रूप को व्यक्त करने वाली संस्थाओं का निर्णय नहीं हो जाता। क्यों कि व्यापक रूप से यह कहना असत्य नहीं है कि किसी भी ढर्रे के प्रजातंत्र को अभी तक अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त संस्थायें मालूम नहीं हुई हैं। किसी प्रकार के वैध निर्देश सम्बन्धी योजना की समीक्षा करने पर तीन प्रकार के अधिकार की आवश्यकता प्रतीत होती हैं--(१)हमको ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता

है जो उन आम नियमों को निर्धारित करें जिनको समूचे नागरिकों पर लागू किया जायगा समूह के एक ऐसे अंग पर लागू किया जाय जिनके हित स्पष्टतः मालूम हैं तथा जो हित समूह के हित से भिन्न हैं। ऐसी संस्थाओं का रूप "व्यवस्थापक" होगा। वे या तो "पार्लामेंएट सहित सम्राट्" की तरह (ब्रिटेन में) सर्व प्रभु-व्यवस्थापक सभा हो सकती है या किसी नगर की म्युनिसिपल कौंसिल हो सकती है जिसके कार्य की सीमा सर्व प्रभु संस्था के नियम द्वारा निर्दिष्ट हो (२) हमको ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता होगी जो व्यवस्थापक सभा के अन्तर्गत काम करेगी। तथा उनके द्वारा निर्धारित नियमों को कार्य में परिणत करेगी। इस प्रकार की संस्थाओं के सम्बंध में तात्विक बात यह है कि वे, आम तौर पर, कार्य करने की अपनी समता का स्वयं निर्णय नहीं कर सकती। जिस सिद्धान्त के अनुसार वे काम करती हैं, वह व्यवस्थापक सभा द्वारा तय होता है और साधारणतः वे उसी के प्रति जिम्मेदार होती हैं। ऐसी व्यवस्थापक सभा ने उनके अधिकार की जो मर्यादा निर्धारित करती है, उसी के भीतर के काम करती हैं। राजनैतिक जीवन के ढांचे को बनाने वाले वैध निर्देशों को कार्यरूप में परिणत करना ही इनका काम होता है। (३) इसके अलावा, हमको ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो दो प्रकार के झगड़े या मत भेदों को तय करती रहे। नागरिकों तथा शासन करने वाली कार्य कारिणी में झगड़ा या मतभेद हो सकता है। नागरिक कह सकता है कि कार्यकारिणी का अमुक कार्य उसके अधिकार की परिधि के बाहर है। जाहिर है कि यदि कार्यकारिणी अपने अधिकार की सीमा का निर्णय कर सकती है तो जिन वैध निर्देशों ने उसे जीवन प्रदान किया है, उसकी रचना की है, उसी की स्वामिनी बन जायगी। अतएब कार्यकारिणी से स्वतंत्र संस्था को ऐसे मतभेदों का निर्णय करने का काम देकर, ऐसे विरोधों में, स्वतंत्र फैसला प्राप्त किया जा सकेगा और कार्यकारिणी के अधिकार को स्वतंत्र रूप से आँका जावेगा। दूसरे विरोध या झगड़े स्वयं नागरिकों में

परस्पर हो सकते हैं। अ--का कहना है कि ब--ने उसे हानि पहुँचाया है, उसके साथ अन्याय किया है। यह तय करना जरूरी हैं कि अ-- जिस व्यवहार के विरुद्ध शिकायत करता है, वह राज्य के वैध निर्देशों द्वारा वर्जित है या, नहीं। यदि वह राज्य के वैध निर्देशों द्वारा वर्जित हैं तो यह भी जरूरी है कि नियम के अनुसार उचित दण्ड देने का तरीका तय किया जाय ।

अरिस्तू के समय से ही, राजनैतिक दर्शन का यह निरंतर दावा रहा है कि हर सुसंगठित समाज में किये तीनों संस्थायें एक दूसरे से कार्य करने में स्वतंत्र हों, इनमें काम करने वाले भी प्रथक व्यक्ति हों। मांटेस्कू ऐसे विचारकों का यहाँ तक कहना है कि इनको एक दूसरे से अलग करना ही राजनैतिक स्वतंत्रता का रहस्य है। कुन्जी है।

इस विषय में इतना कठोर विचार हम शायद ही मान सकें। कोरे सिद्धान्त के विचार से, पहले तो, यह काफ़ी तर्क पूर्ण बात है कि न्याय का, फैसले का काम व्यवस्थापक सभा का समझा जाय। उसी के अधिकार की चीज मानी जाय। इसलिये कि क़ानून का अर्थ सबसे अच्छी तरह वही संस्था जान सकती है जो क़ानून बनाती है। व्यवहार में, इन तीनों कामों में कठोर भेद रखना सम्भव नहीं होता व्यवस्थापक अपना काम पूरा कर ही नहीं सकतीं यदि वे कान के शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार न रखती हों तथा अवसर आने पर, न्यायाधीशों के उन फैसलों को, जिनका परिणाम घोर असन्तोष पैदा करता हो, विधान बनाकर रद्द कर देने की शक्ति न रखती हो। शासन कर्त्ता को, कानून के आम उसूलों को अमल में लाने के लिये, तफसील का जामा पहनाना पड़ता है। आज के राज्य में ऐसे तफसील के काम की मर्यादा इतनी विस्तृत है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि वह व्यवस्थापक सभा का ही कार्य नहीं कर रहा है। अन्त में अदालत भी, जो की शासन कर्त्ता के अधिकार की सीमा पर फैसला देती है। (ऐसी दशा में वह व्यवस्थापक संकल्प का

तत्त्व निर्धारित करती है या दो नागरिकों के बीच के झगड़े में फैसला करती है। इस दशा में वह वैध निर्देशों का नया अर्थ लगाती है या तय करती है कि उसका जो मतलब लगाया जाता है वह उन निर्देशों की मर्यादा के भीतर है। वास्तव में ऐसा काम कर रहीं हैं जो व्यवस्थापक सभा के समान है। इङ्गलैण्ड और अमेरिका में, उदाहरण के लिये, जिसे न्यायाधीश-निर्मित नियम कहते है, वह राज्य के विधान से अधिक व्यापक क्षेत्र में लागू होता है। अमेरिका में सभी व्यवस्थापक सभा में अपने रूपमें अ-प्रभू हैं क्यों कि उनका स्वामी लिखित शासन विधान है। इसको वे बदल नहीं सकतीं। यहाँ पर न्यायाधीश शासन विधान की परिभाषा करता है और जब व्यवस्थापक सभा के किसी नियम को या शासन कर्त्ता की आज्ञा को चुनौती दी जाती है तो वही फैसला देता है। इसलिये व्यवस्थापक सभा की तुलना में उसकी शक्ति कहीं अधिक है क्यों कि व्यवस्थापन के अधिकार की सीमा को निर्धारित करने वाली प्रमुख वस्तु न्याय की, न्यायाधीश की इच्छा अथवा संकल्प है।

इन भिन्न संस्थाओं की पृथक् समीक्षा करने के पहले, दो आम सिद्धान्तों पर विचार कर लेना जरुरी है। हरेक सु-व्यवस्थित राज्य का एक शासन विधान होता है जो यह निश्चय करता है कि अन्ततो गत्वा, वैध निर्देश किस प्रकार बनाये जावें। ऐसा विधान दो प्रकार का हो सकता है—लिखित या अ-लिखित (लिपि-बद्ध या अ-लिपि बद्ध) लचकीला या ठोस हो सकता है। उदाहरण के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन विधान में व्यवस्थापक, कार्य कारिणी तथा न्यायालय के सम्बंध निश्चित किये गये हैं, इनमें से किसी को भी कोई कार्य करने का तभी अधिकार है जब वे उस लिपि-बद्ध विधान की तत्सम्बंधी धारा से अपना दावा साबित कर सकें। दूसरी तरफ ब्रिटिश शासन विधान है जो कानून, अदालती फैसले, अलिखित रस्में और परम्परायें, आदि का समूह है। इनके वास्तविक सम्बंध का निर्णय

नियमित रूप में केवल इसी बात से होता है कि "पार्लामेण्ट-सहित नरेश" जब उचित समझे इनको बदलने की शक्ति रखता है। पारिभाषिक रूप में साधारण नियम बनाना या विधान बनाना बराबर की चीज़ है। मिसाल के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस प्रेसिडेण्ट राष्ट्रपति के अधिकारों में परिवर्त्तन करने की शक्ति नहीं रखती। पर, "पार्लामेण्ट सहित नरेश" जब उचित समझे, कार्यकारिणी को—शासक-समिति की शक्ति में रद्दोबदल कर सकती है।

आधुनिक जगत में अब लिपि बद्ध शासन विधान की आम प्रथा चल पड़ी है अब यह महसूस किया जाता है कि राज्य में शक्ति का विभाजन इतनी महत्व पूर्ण बात है कि उसको ठीक रूप देने के लिये लिखित विधान का होना जरूरी है। सब बातें सोचने पर, अनुभव यही बतलाता है कि इस विचार में असली वज़न है, तत्त्व है। क्यों कि, कुछ वैधानिक सिद्धान्त इतने महत्त्व पूर्ण हैं कि उनकी महानता शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। इसके अलावा यह भी सही है कि शासन विधान का ठोस तथा अपरिवर्त्तनशील रूप होना अवांछनीय है। समुदाय की आवश्यकतायें बदलती रहती हैं। इन आवश्यकताओं के परिवर्त्तन के साथ इनका ज़ाहिरा ढाँचा भी बदलना जरुरी होता है। अमेरिकन शासन विधान का ठोस पन काफी बदनाम है। इसमें तभी परिवर्त्तन हो सकता है जब कांग्रेस की दोनों महासभाओं का दो तिहाई बहुमत स्वीकार करे। इसके वाद, सात वर्ष के भीतर, संयुक्त राज्य संघ के अन्तर्गत तीन चौथाई राज्यों की सम्मति (स्वीकृत) प्राप्त होनी चाहिये। अनुभव बतलाता है कि परिवर्त्तन की प्रणाली को इतना कठिन बना देने से, ज़रूरत पड़ने पर, ज़रूरी रद्दोबदल नहीं की जा सकती। संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन विधान में मौलिक रूप से अधिकार-वितरण इस प्रकार हो गया है कि आज के राज्य के लिये आवश्यक समान रूप से लागू होने लायक़ मजदूर-कानून या वैवाहिक नियम भी नहीं बन सकते। संयुक्त राज्य के पिछड़े राज्य में, प्रति क्रियावादी मालिक

अनुचित रूप से लाभदायक स्थिति मे रहेगा। अमेरिकन विधान में "पूर्ण विश्वास तथा प्रतीति" की धारा के कारण, व्यवहारिक रूप में धनी वर्ग को जो सहूलियतें "तलाक" देने की देता है, उतना ग़रीब के लिये सम्भव नहीं है। इन अनुभवों का यही निचोड़ निकलता है कि एक लिखित शासन विधान होना चाहिये जो आसानी से बदला जा सके। सब बातों को ध्यान में रखते हुए, श्रेष्ठ उपाय तो यह होगा कि व्यवस्थापक सभा ही विधान में संशोधन कर दे, पर जोर इस पर देना चाहिये कि सदस्यों की अत्यधिक संख्या, उनकी संख्या का विशिष्ट उच्च अनुपात, प्रस्तावित परिवर्त्तन का समर्थन करे।

कभी कभी यह भी दलील पेश की जाती है कि प्रजातंत्रीय प्रणाली में, राज्य के धिान में सबकी सम्मति प्राप्त करने की तथा निजी प्रयत्न और प्रेरणा से काम करने की गुञ्जायश होनी चाहिए। कहते हैं कि यदि जनता का काम वैध निर्देशों के बनाने में प्रत्यक्षतः इतना ही है कि वह उनको असली रूप में बनाने वाले प्रतिनिधियों को चुन ले तो यह अपने जीवन का असली सञ्चालन नहीं कहा जा सकता। निजी प्रयत्न तथा प्रेरणा में काम करने की स्वाधीनता होने पर सार्वजनिक संकल्प निश्चित आकार ग्रहण कर सकता है। सबकी सम्मति लेने की प्रथा से जनता अपने प्रतिनिधियों को वे काम करने से रोक सकती है जिससे वह सहमत नहीं हैं। यह दावा किया जाता है कि प्रजा सत्तात्मक (प्रतिनिधि-सत्तात्मक) योजना की आवश्यक उपक्रमणिका है प्रत्यक्ष शासन। अन्याय, जैसा कि रुसों ने अंग्रेजों के लिए कहा था कि "वे केवल चुनाव के समय स्वतंत्र रहते हैं"

पर, मैं यह बतला दूँ कि ऐसा कहना जिन समस्याओं का निर्णय करना है तथा जिस परिस्थिति में क्रियाशील रूप में सार्वजनिक सम्मति सबसे मूल्यवान फल प्राप्त कर सकती हैं, दोनों के रूप के बारे में भूल करना है। आधुनिक राज्य में मत दाता की संख्या जरूर ही इतनी विशाल है कि प्रत्यक्ष शासन में लोग हाँ या नहीं के अलावा

शायद ही और कुछ कर सकें। सरकार उनसे जो सवाल करेगी, उसके प्रति जन-समूह के रूप में वे इससे अधिक कर ही नहीं सकते। कानून बनाना विस्तार की, ब्यौरे की तथा सिद्धान्त की भी चीज़ है, और निर्वाचक के सामने जो समस्या विचार के लिए रखी जायेगी, उसके ब्यौरे में वह जा ही नहीं सकता। आधुनिक-सरकार के लिए वास्तव में प्रत्यक्ष शासन बड़ी बेढंगी चीज़ होगी। जिस बात पर बहस होनी चाहिए, न हो सकेगी। संशोधनों की रीति की कोई गुञ्जायश ही न रहेगी। सिद्धान्त के बड़े सवाल सार्वजनिक मत के लिए छोड़े जा सकते हैं, जैसे उदाहरण के लिए, बिजली देने का काम निजी उध्योग रहे या राज्य द्वारा हो। पर अन्य प्रकार के सवाल ऐसे नाजुक और उलझे हुए होते हैं कि समूची निर्वाचक मण्डली के सामने रख दिये जाने पर, न तो उचित निर्णय करने के लिये उसके पास ज्ञान होगा, न रुचि होगी।

इतना ही नहीं। प्रत्यक्ष शासन को चरितार्थ करने के लिए बहुत से सवालातों को इसके अनुकूल नहीं बनाया जा सकता—इसके अलावा इस प्रणाली के दूसरे परिणाम भी असन्तोष जनक होते हैं। उदाहरणार्थ, पार्लमिण्टरी प्रथा से उसका शायद ही मेल खा सके क्यों कि राज्य के नियमों की मौलिक जिम्मेदारी व्यवस्थापक सभा के बाहर हो जाती है। इससे काम की वह सम्बद्धता नष्ट हो जाती है जिससे लोग अपने प्रतिनिधियों के कार्यों की परीक्षा करते हैं। इससे यह धारणा होती है कि व्यवस्थापन की रीति तथा उसके परिणामों के बारे में सार्वजनिक के विचार वर्त्तमान है क़ायम है। किन्तु, सरकार की असली समस्या यह नहीं है कि निर्वाचकों को बिना कोई भेद भाव किये, रुचि के अभाव में भी, सम्मति प्राप्त करने के लिए कैसे बाध्य करे--और ऐसे विषयों पर जिनमें उसकी निकट जानकारी सम्भव नहीं है। समस्या तो यह है कि वैध निर्देश बनाने के पूर्व उसके तत्व को, उस से सम्बन्ध रखने वाली तथा उसके सम्बंध में

राय देने की क्षमता रखने वाली जन सम्मति से कानून बनाने की रीति का सम्बंध कैसे स्थापित किया जा सके। इसमें प्रत्यक्ष सरकार की आवश्यकता नहीं होती। एक ऐसे उपाय की आवश्यकता है जिससे उस नियम का फल भोगने वालों का उसके सम्बंध में विचार जाना जा सके। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय स्वास्थ्य--बीमा योजना के लिये जमानत लेने से ज्यादा जरूरी है कि डाक्टरों, व्यवसाय संघों, तथा वैसी ही संस्थाओं को राज्य पूरा मौक़ा दे कि व्यवस्थापक सभा में उस पर विचार होने के पूर्व वे अपनी सम्मति प्रकट कर सकें। संक्षेप में, राज्य के कार्य के लिए प्रभावोत्पादक सम्मति वही होगी जो जन समूह में से छाँटकर विशेष ज्ञान रखने वालों से प्राप्त की जाय। सार्वजनिक राय लेने से केवल हानि होगी। अनुभव बतलाता है, खासकर स्विटजरलैंड से यह प्राप्त हुआ है कि जन समूह परम्परा गत आदतों में ऐसा जकड़ा हुआ है कि व्यवस्थापक सभा की शक्ति के ऊपर एक शक्ति सुरक्षित रखने से सामाजिक प्रयोग असम्भव कठिन हो जाते हैं।

(२)

आधुनिक परिस्थिति में, यदि व्यवस्थापक सभा को अपने निर्वाचकों की ओर से बोलने का समुचित अधिकार रखना है तो मताधिकार व्यापक होना चाहिए। सभा को इतना बड़ा तो होना ही चाहिए कि सदस्यों को निर्वाचकों से प्रभावशील सम्पर्क बना रहे। इतना छोटा होना चाहिए कि सही ढंग से वादाविवाद हो सके, एक संस्था के रूप में काम कर सके। रूसी सोवियट सरकार की कांग्रेस इतनी बड़ी जमात में वादा विवाद में सम्पूर्ण व्यक्तित्व खो जाता है, यह महासभा प्रभाव रखने वाली पार्टी की मशीन की इच्छा की हामी भरने वाली मात्र ही रह जाती है। निश्चित समय तथा अवधि के भीतर, जिसे वह साधारण परिस्थिति में बदल नहीं सकती, जनता के सामने इस सभा को फिर

से चुनाव के लिये हाज़िर होना चाहिए। यह अवधि-इतनी लम्बी जरूर हो कि दो परिणाम निकल सके—व्यवस्थापक सभा प्रयाप्त कार्य-क्रम यानी योजना के प्रति जिम्मेदारी ले सके तथा सदस्यों को इतना अवसर मिले कि वे उसकी कार्य प्रणाली से परिचय प्राप्त कर सकें। किन्तु इतनी कम भी हो कि व्यवस्थापक का निर्वाचक से सम्बंध न टूटे सन् १६११ में इङ्गलैण्ड में पार्लमिण्ट का जीवन सात वर्ष का होता था। यह इतना लम्बा युग होता था कि व्यवस्थापक जनता की विचार धारा के प्रवाह से बहुत कम प्रभावित होता था। इसके विपरीत, संयुक्तराज्य, अमेरिका में "प्रतिनिधि-सभा" का दो वर्ष का कार्यालय काफ़ी छोटा है क्योंकि जैसे ही सदस्य चुना गया, नया चुनाव उसके दिमाग़ में चक्कर काटने लगता है। इतने अल्पकाल में वह बिरले ही व्यवस्थापक प्रणाली को समझ पाता होगा। सब विचार करने पर, ऐसा लगता है कि पाँच वर्ष की अवधि इन कमियों को पूरा करती है।

साधारण तौर पर, व्यवस्थापक सभा का सदस्य वही चुना जाता है जो किसी दल का समर्थक या अनुयायी होता है। आजकल के राज्य में, निर्वाचक सूची इतनी बड़ी होती है और भिन्न स्वार्थों की संख्या इतनी महान होती है कि कोई निर्णय करने के लिए उनको संगठित करना आवश्यक होता है। राज्य में यही काम दल या पार्टियाँ करती हैं। वे विचारों के दलाल होते हैं। वे कुछ ऐसे सिद्धान्त चुन लेते हैं जिन पर मतदाताओं की स्वीकृति प्राप्त करने की अधिक सम्भावना होती है; इन्हीं सिद्धान्तों का सहारा लेकर ये दल चलते हैं और वादा करते हैं कि अधिकार प्राप्त होने पर उन बातों को कानून का रूप दिलायेंगे। व्यापक दृष्टि से प्रजातंत्रात्मक प्रणाली में, जिसमें प्रतिनिधियों (नुमायन्दों) द्वारा शासन होता है, पार्टियाँ (दलों) का होना जरूरी है। इसके बिना नियमों का सुसम्बद्ध कार्यक्रम नहीं बन सकता, न तो व्यवस्थापक सभा में इन नियमों के लिए ऐसा संगठित समर्थन प्राप्त हो सकेगा कि वे विधान के अंग बन सकें। इसमें—इस प्रणाली में दोष

होते हुए भी, प्रभावशाली नागरिक माँगों से उत्पन्न जीवन के लिए वाँछनीय विधि को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता—प्रकट नहीं किया जा सकता।

राज्य में पार्टियों में विभाजन का सदस्यों के विचारों में विभाजन का कोई प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं होता। इस सम्बंध के अभाव के कारण ही दो सिद्धान्त निर्धारित होते हैं—जिनकी धारणायें आकर्षक होते हुए भी, कार्य रूप में असन्तोषजनक होती है। जहाँ पर, राज्य के जीवन में पार्टी (दल) वाली सरकार की प्रबलता होती है, वहाँ पर साफ तौर पर भिन्न प्रकार के विचारों का जानने का तरीका बहुत ही बनावटी होता है। इंगलैण्ड में अगर केवल अनुदार (कांजर्वेटिव) तथा मजदूर (लेबर) दल ही रह जाँय तो बहुत से लोगों को इनमें से ही किसी में शामिल होना पड़ेगा चाहे वे दो में से एक के साथ भी पूरी सहानुभूति न रखते हों। इस लिये जोर दिया जाता है कि जनता में प्रचलित भिन्न विचार धारा को प्रकट करने के लिये अनेक दलों की प्रथा जिसे समुदाय-प्रणाली भी कहते हैं, ज्यादा अच्छी तरह से काम करने वाली होगी।

पर, जर्मनी या फ्राँस की तरह समुदाय-प्रणाली के साथ दो घातक परिणाम (दोष) भी लगे होते हैं। जहाँ पर भी यह प्रणाली काम कर रही है, वहाँ इस बात की जरूरत होगी कि बहुत से समुदायों को मिलाकर ऐसा बहुमत बनाया जाय जिससे व्यवस्थापक सभा में प्राबल्य प्राप्त हो सके। इसका फल यह होता है कि जिम्मेदारी की जगह हिकमत से काम लेना होता है और व्यवस्था देने के लिये जिस गम्भीरता, एक—स्वरिता तथा विस्तार के साथ विचार करना, वह सब कुछ न हो सकेगा। दूसरा दोष, जो खास तौर पर फ्रांस में दिखाई पड़ता है, यह है कि समुदायों के बने गुटों की प्रणाली में वास्तविक शक्ति सिद्धान्तों की न होकर कुछ व्यक्तियों में एकत्र हो जाती है। फ्राँस का साधारण मतदाता राजतंत्रवादी तथा समाजवादी में भेद समझ सकता

है, पर इन दो के बीच में ऐसी अनेक पार्टियाँ हैं जिनके भेद को शब्दों-द्वारा प्रकट करना कठिन है। इसका फल यह है कि जब कि इङ्गलैण्ड की जनता जानती है कि वह किस परिणाम को दृष्टि में रखकर मत दे रही है, जिस दल का वह समर्थन कर रही है, उसकी विजय से किस प्रकार के नियमन तथा व्यवस्था की आशा की जा सकती है— फ्रांस में जब तक उग्र वामपक्षी या उग्र दक्षिण पक्षी का महासभा में बहुमत नहीं होता, जनता की—निर्वाचकों की प्रकट इच्छा तथा तत्कालीन सरकार की इच्छा में कोई प्रत्यक्ष सम्बंध-हो ही नहीं सकता। इसके अलावा 'एक और दोष यह है कि व्यवस्था पर सभा में तत्कालीन सरकार की हार उसके सिद्धान्तों से मतभेद-होने के कारण नहीं होती बल्कि ऐसा होता है भिन्न गुटों में, अलग गुटबन्दी कायम करने के संघर्ष के कारण ऐसी गुटबन्दियाँ इस आधार पर बनती बिगड़ती रहती है कि किस गुटबन्दी को बना लेने से, अधिकार प्राप्त होने पर, हरेक गुट के अधिक से अधिक लोगों को शक्ति का उपयोग करने का अवसर मिलेगा।

ऐसी प्रणाली में एक दोष यह भी है कि तारतम्य या सम्बद्धता न होने के कारण, इस बात पर जोर दिया जाने लगता है कि व्यवस्थापक सभा में हरेक समुदाय का समनुपातिक प्रतिनिधित्व हो। कहते हैं कि प्रत्येक दल की शक्ति निर्वाचकों में उसके समर्थन के अनुसार हो। निर्वाचन की और किसी विधि में मतदाता की व्यक्त इच्छा की अवहेलना होती है। ऐसी स्थिति में सर्व-साधारण की प्रकट इच्छा के प्रतिकूल नियम बन सकते हैं। ग्रेट ब्रिटेन की तरह की चुनाव की प्रणाली भी है जिसमें एक प्रकार से बराबर के निर्वाचन क्षेत्र बना दिये जाते हैं जिनमें अधिक से अधिक समर्थन प्राप्त करने वाला उम्मीदवार चुना जाता है। इसमें एक दूषण यह है है कि किसी दल को, समूचे देश भर में प्राप्त समर्थन के अनुपात से कहीं अधिक, एक ही दल को व्यवस्थापक सभा में स्थान प्राप्त कर लेगा। दूसरा अधिक

हानिकार दूषण यह होगा कि जनता के (सार्वजनिक सम्मति के) एक काफी बड़े खण्ड को, अपनी संख्या की तुलना में, कोई भी प्रतिनिधित्व न प्राप्त करने की हानि उठानी पड़े। उदाहरण के लिये, सन् १६२४ के आम निर्वाचन में, ब्रिटिश हाउस आफ़ कामंस (साधारण महा-सभा) में अनुदार दल का बहुत बड़ा बहुमत था जब कि कुल जितने वोट पड़े थे उनके हिसाब से वह काफी अल्पमत में था, और इसी समय लिबरल (उदार) दल को लाखों वोट मिले थे, पर वह जितने समर्थकों का दावा कर सकता था, उसकी तुलना में उसके सदस्यों की संख्या उपहासास्पद थी।

यह स्पष्ट है कि इस आलोचना में वास्तविक तत्व है। किन्तु, हमको समनुपातिक प्रतिनिधित्व के सैद्धान्तिक गुण-दोष पर ही विचार नहीं करना चाहिये। उसके कार्यरूप पर भी सोचना चाहिये। जहाँ भी कहीं यह प्रथा है, इस के दो विशिष्ट परिणाम हुए हैः (१) इससे सदैव दल की, पार्टी की शक्ति बढ़ी है; (२) व्यवस्थापक सभा में दलों की शक्तियों का ऐसा संतुलन हो जाता है कि प्रायः अल्पमत वालों की सरकार बन जाती है जिससे सुसम्बंद्ध व्यवस्थापन असम्भव हो जाता है या मिली जुली सरकार बनाने के लिये बाध्य होना पड़ता है जिसके कार्यों में गुटबन्दी वाली प्रणाली के समान ही दोष पैदा हो जाते हैं। वास्तविक व्यवहार में, एक व्यक्ति को एक ही सदस्य चुनने का अधिकार देने की प्रथामें; जिस सरकार में किसी दलका अवांछनीय रूप से बहुमत हो गया है तथा जिस बहुमत का आदर करना ही पड़ता है, उसके कार्यों पर—बहुमत द्वारा किये गये कार्यों पर कुछ प्रतिबंध लग ही जाता है। सन् १६२४ में अनुदार दल की सरकार में यह शक्ति थी कि वह सरदार सभा (हाउस आव लार्ड्स) का सुधार (उसकी रचना में परिवर्त्तन) कर सकती थी तथा कुछ व्यवसायों के संरक्षण के लिये चुंगी लगा सकती थी। अनुदार दल के समर्थक इन दोनों ही बातों को बड़ी उत्सुकता पूर्वक चाहते थे। पर वह यह दोनों

ही काम नहीं कर सकी क्यों कि जिस प्रकार का उसका बहुमत था, उसे इतनी आध्यात्मिक शक्ति नहीं प्रदान करता था कि ये दोनों बातें कर सके—उसे आगामी आम निर्वाचन के परिणाम का भय बना हुआ था। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि समाज के किसी अंग की इच्छा या विचार की शक्ति का पता आम चुनावके समय पड़े हुए वोटों की संख्या से ही नहीं मालूम होती। कानून बनाने की वास्तविक गति में, उनको बनाने का अधिकार देने में बहुत सी बातें शामिल होती हैं और वे इतनी सूक्ष्म होती हैं कि वर्त्तमान प्रथा के आलोचक उनको स्वीकार करने के लिये तय्यार नहीं हैं। इस बात पर भी जोर देना सही होगा कि जो सरकार अपने वास्तविक अधिकार की स्पष्ट सीमा का उल्लंघन करती है, जो अपने बहुमत का दुरूपयोग करती है, उसको आगामी आम चुनाव में इसका दण्ड भोगना पड़ेगा। यही नहीं उसके बाद जो सरकार स्थान ग्रहण करेगी, वह उन नियमों में संशोधन भी कर देगी।

व्यवस्थापक सभा की सदस्यता के विषय में जो सीमायें हों, वे समूचे नागरिक वर्ग के लिये समान रूप से लागू होनी चाहिये। ये सीमा में, आमतौर पर, जितनी कम हो उतना ही अच्छा है। पर यह असम्भव नहीं है कि हम मत देने की योग्यता के सम्बंध में अधिक कड़ाई से परीक्षा करें। एक बार उस की जाँच सन्तोष जनक रूप से हो जाने के बाद, और किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि सम्पत्ति, जन्म, किसी स्वयं संगठित शक्ति शाली संस्था से सम्बंध (जैसे ग्रेटब्रिटेन के खनिकों का संघ) या किसी व्यवसाय या पेशावाला होना, जैसे वकालत के पेशा वाले व्यवस्थापक सभाओं की सदस्यता के लिये विचित्र रूप से योग्य होते हैं, ऐसे विशेष पद या अवसर हरेक नागरिक को प्राप्त नहीं होते। मैं सोचता हूँ कि इस तर्क में कुछ दम जरूर है कि जो सदस्यता चाहे वह इस बात का सबूत दे कि व्यवस्थापक सभा का काम कर सकता

है। यदि, उदाहरण के लिये यदि चुनाव के पहले यह जरूरी समझा जाय कि उम्मीदवार किसी म्युनीसिपल कौंसिल का सदस्य रह चुका हो—यह वैसे ही किसी संस्था की सदस्यता कर चुका हो। यदि ऐसा कोई नियम बने तो सदस्यों की वर्त्तमान योग्यता में काफी सुधार हो जाय। यह भी जरुरी है कि सदस्यों को वेतन मिले - अन्यथा ग़रीब-आदमी तो कभी चुने जाने की आशा ही नहीं कर सकता और केवल धनी व्यक्ति ही व्यवस्थापक सभा के कार्य में पूरा समय लगा सकेंगे।

आम तौर पर, व्यवस्थापक महासभा की एक ही सभा होनी चाहिये। जहाँ भी कहीं, एक केन्द्रीय राज्य में, दो सभाओं वाली प्रथा है, वहाँ की दशा देखने से पता चलेगा कि इङ्गलैण्ड के हाउस आफ़ लार्ड्स—की तरह, कुछ विशेष हितों (स्वार्थों) का प्राबल्य हो जाता है। सिद्धान्त रूप से, दो सभाओं की जरुरत ही समझ में नहीं आती। इस विषय में सीये* ने कहा है कि दूसरी सभा यदि पहली से (सरदार सभा यदि साधारण सभा से) सहमत है तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, यदि असहमत है तो आपत्तिजनक है। दूसरी सभा के विषय में विशेष हितों के आधिपत्य के अलावा दो और बातें पक्ष में कहीं जाती हैं। कहा जाता है कि यह आवश्यक है कि पहली (साधारण) सभा के बिना ठीक से सोचे हुए तथा जल्दबाजी में बनाये कानूनों को फिर से दुहराया जाने तथा सरकार के प्रस्तावित कार्यों की उपयुक्त विशेषता के साथ जाँच या परख करली जाय। पर, इससे दो नये सवाल पैदा होते हैं: (१) इस दूसरी सभा की रचना कैसी हो (२) इसके क्या कार्य तथा अधिकार हों। इसी बीच में यह भी कह दिया जाय कि संघ राज्यों में भी, दो सभा वाली प्रणाली में, इन दो सभाओं में से कोई एक अधिक महत्व प्राप्त कर लेती है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में मंत्रणा परिषद् (सीनेट) ने।

पहले हम इस दूसरी सभा की रचना के सम्बंध में विचार करें।

---

* Sieyes

हाउस आफ़ लार्ड्स या कनाडा का मंत्रणा परिषद्, प्रजातंत्रीय राज्य में निर्वाचित व्यवस्थापक सभा की इच्छा को चुनौती देने का अधिकार नहीं रख सकती। उसकी सदस्यता, जब कभी कोई स्थान खाली होगा, उस समय की सरकार की इच्छानुसार नामज़दगी पर निर्भर करेगी। नामज़दगी का अधिकार तो तत्कालीन सरकार को ही होगा। चुनी हुई दूसरी सभा की इससे कुछ अच्छी हालत नहीं होती। यदि वह पहली सभा के साथ ही, उन्हीं मत दताओं द्वारा चुनी जाती है तो पहली सभा का ही प्रतिबिम्ब हो जायगी। यदि उसका चुनाव भिन्न समय पर, भिन्न निर्वाचकों द्वारा होता है तो वह तत्कालीन सरकार के काम में अड़ंगा लगायेगी और जिस अंश तक उसके लिये मताधिकार सीमित होगा उतना ही अधिक वह सीमित स्वार्थों की रक्षा के भार से दबी रहेगी, जैसा कि फ्राँस का सिनेट (मंत्रणा परिषद्) है एक वह भी प्रस्ताव है कि सीमित क्षेत्रों के आधार पर चुनाव या नामज़दगी कोई भी संतोष-जनक नहीं होता। अतएव दूसरी सभा का आधार व्यवसायिक स्वार्थ होना चाहिये। पर, भिन्न पेशों को समनुपातिक वज़न देने का कोई तरीका मालूम नहीं है। उदाहरण के लिये यदि इञ्जीनियरिंग के पेशों से एक आदमी चुना गया तो उसके विचार अनेक प्रकार के अत्यधिक निर्णयों से कोई सम्बंध नहीं रक्खेंगे। संक्षेप में अपने निर्णयों को सुसम्बंधित करने के लिये, दूसरी सभा का चुनाव दलबन्दी के आधार पर करना होगा, और जब एक ही पेशे में दो दल हो गये तो जिस लिये दूसरी सभा का अस्तित्व—कायम किया गया, वह उद्देश्य ही न पूरा होगा।

इस दूसरी सभा का काम और अधिकार तय करना सरल बात नहीं है। इस तर्क को बहुत गुरुता देना कठिन है कि नियम बनाने के कार्य में बिलम्ब के विचार से दूसरी सभा आवश्यक है। क्यों कि कोई भी सरकार व्यापक रुपेण लागू होने वाला ऐसा कोई नियम नहीं बनाती जिसका उद्देश्य या सार सर्व—साधारण के सामने विचार के ऐसी दूसरी सभा, जिसमें केवल नामज़द सदस्य ही हों, जैसे इङ्गलैण्ड का

लिए नहीं आ जाता। और, दूसरे, जब काफी लम्बी देर हो जाती है तो असली सभा का काम और परिश्रम नष्ट हो जाता है। अगर हम यह ध्यान रखें कि ग्रेट ब्रिटेन में निर्वाचन प्रणाली में सुधार, आयरिश होम रूल (स्वाधीनता) या राष्ट्रीय शिक्षा ऐसे महान नियमों को विधान में सम्मिलित होने में कितना समय लगा है तो हमारी यह इच्छा होगी कि ऐसे नियमों को जल्दी लागू करने का उपाय होना चाहिए न कि देर करने का। इस विचार में भी कोई सार नहीं है कि नियमों की विशेष रूपेण पुनरावृत्ति करने के लिए एक दूसरी सभा की आवश्यकता है यह काम तो मस्विदा बनाने का, तय्यार करने का है। इसके लिए एक दूसरी सभा नहीं, इस कला में प्रवीण विशेषज्ञों की छोटी सी कमेटी चाहिए। अधिकार के विषय में तो यही कहा जा सकता है कि दूसरी सभा को पहले के समान तब तक अधिकार नहीं हो सकता जब तक वह उसी की तरह से न चुनी जाय। यदि उसका अधिकार कम किया जाय तो तुरत सवाल उठेगा कि उसकी रचना कैसी हो। मैंने यह दिखला दिया है कि हर रचना के सम्बंध में सन्तोषजनक हल नहीं निकल सकता कम अधिकार देकर भी गयी रचना में तो प्रथम सभा को ही अपनी इच्छा, अपने संकल्प को लागू करने का अधिकार होगा।

संघ राज्य में दूसरी सभा की स्थिति के सम्बंध में कुछ शब्द कह देना जरूरी है। दो कारणों से, उनके लिए वह ज़रूरी समझी जाती है: (१) संघ के अन्तर्गत हरेक इकाई का प्रति निधित्व होना चाहिए, (२) विधान द्वारा अधिकारों का जिस प्रकार वितरण किया गया है, उसको आक्रमण से बचाना जरूरी है। पहला तर्क तो बेकार है क्यों कि हरेक इकाइ (राज्य) विधान द्वारा प्राप्त अधिकारों के अनुसार अपनी सीमा में स्वयं शासन कर रही है। विधान द्वारा प्राप्त अधिकारों को आक्रमण से बचाने के लिए यह जरूरी नहीं है कि दूसरी सभा हो। यह काम तो विधान में ही ऐसा नियम बना देने से हो जाता है कि

संघ के अंतर्गत इकाइयाँ अथवा राज्यों की समूची संख्या के काफी बड़े बहुमत की बिना स्वीकृति के, विधान में कोई संशोधन न हो। संयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट इस किस्म की एक प्राचीन संस्था है। इसके कार्यों के अनुभव से, मेरी समझ में गम्भीरता पूर्वक यह कहा जा सकता है कि शासन के अत्याधिक केन्द्रीकरण के विरुद्ध उसके द्वारा प्राप्त संरक्षण का कोई विशेष मूल्य है इस सम्बंध में आस्ट्रेलिया से यह उपदेश मिलता है कि ऐसी प्रणाली में समानता (पहली तथा दूसरी सभा में) न होते हुए भी दूसरी सभा को समानता का कृत्रिम पद देने के कारण नियमों में उचित समय पर, आवश्यक परिवर्त्तन नहीं हो पाते।

हम यहां पर व्यवस्थापक संस्थाओं के संगठन के ब्यौरे में नहीं पड़ना चाहते। मैं इस स्थान पर केवल इतना ही कह सकता हूँ अनुभवों द्वारा निश्चित रूप से सिद्ध कतिपय सिद्धान्तों की ओर निर्देश मात्र-कर दूं। ब्रिटेन की ऐतिहासिक प्रणाली में, राजनैतिक कार्यकारिणी (शासन समिति) व्यवस्थापक महासभा में बहुमत वाले दल की ह' एक समिति के रूप में, उसकी अन्तर्निहित संस्था के रूप में, काम करती है। ऐतिहासिक परम्परा द्वारा अमेरिका में दोनों पृथक् पृथक् हैं—और अमेरिकन प्रणाली से ब्रिटिश प्रणाली कहीं अधिक अपनाने योग्य है। ब्रिटिश प्रणाली में दोनों का एक दूसरे में मिला रहना सुसम्बद्ध योजना बनाने में सहायक होता है। यही नहीं, इससे दोनों की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। इसके द्वारा मुख्यतः व्यवस्थापक सभा के द्वारा ही—और ऐसा होना भी चाहिए-शासन के जिम्मेदार कार्यों के योग्य व्यक्ति चुने जाते हैं। दूसरे, यह जरूरी है कि व्यवस्थापन के इन दो कामों में अन्तर होना चाहिएः सिद्धान्त पर अलग विचार—विमर्ष हो और ब्यौरे की बातों पर अलग से। पहला काम समूची व्यवस्थापक सभा को करना चाहिए। दूसरा कार्य सदस्यों की एक ऐसी छोटी कमेटी को करना चाहिए जो वर्त्तमान ब्रिटिश हाउस

आफ़ कामंस के ढाँचे से ज्यादा अच्छा हो यदि इङ्गलैण्ड को अन्य आधीन छोटी (सभाओं) जैसे लन्दन कौंटी कौंसिल द्वारा उन्नत समितियों के ढंग पर बनी हो। इसका मतलब यह हुआ कि यह भी वांछनीय है कि व्यवस्थापक सभा तथा शासन की विधि में घनिष्ट सम्पर्क हो। इसी उद्देश्य से, राज्य के शासन के हर विभाग से समन्वित व्यवस्थापक महासभा के सदस्यों की एक कमेटी भी हो जो सलाहकार समिति के रूप में हो और उसे यह अधिकार हो कि हर प्रकार के प्रस्ताविक नियमों पर उसकी सलाह प्राप्त की जाय, ऐसे अधिकार की सीमा के भीतर जो नियम आते हों, उनकी कार्यवाही पर यह कमेटी अपनी रिपोर्ट दे और अपने विभाग के अन्तर्गत समस्याओं पर आवश्यकतानुसार जाँच पड़ताल करे। यह जरूरी है कि अपने विभाग की नीति के सम्बंध में जिम्मेदारी उसके मंत्री की होगी, पर अनुभव द्वारा, उसके काम में और व्यवस्थापक सभा में अधिक घनिष्टि सम्बंध की आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है। अन्यथा, व्यवस्थापक सभा कभी कभी भले ही उबल पड़े, पर आम तौर पर वह कार्यकारिणी (प्रबंधको) की आज्ञाओं की तसदीक़ करने वाली एक संस्था मात्र रह जाती है।

मैंने ऊपर यह विचार प्रकट किया है कि व्यवस्थापक सभा के जीवन की अविध पांच वर्ष होना उचित होगा। पर, सयुक्त राज्य अमेरिका की तरह, उसके जीवन की अविध को एकदम निश्चित कर दना अवांछनीय है ऐसा भी अवसर आता है जब जन साधारण की सम्मति जानना आवश्कय होता है। यकायक, ऐसी कोई समस्या सामने आ सकतो है जो एकदम नयी हो और राष्ट्र के जीवन के लिये अत्यधिक महत्वपूण हो। ऐसे अवसर पर, या जब सरकार व्यवस्थापक सभा में हार जाने पर भी यह महसूस करती हो कि वह जनता की वास्तविक इच्छा के सम्पर्क में नहीं है, यह जरूरी होता है कि महासभा भंग-की जा सके। पर, उसे भंग करने की शक्ति किसके हाथ में हो ? मेरी समझ में ऐसी शक्ति का अधिकारी मंत्रिमण्डल से अच्छा दूसरा

कोई नहीं। यह मंत्रिमण्डल ही (मंत्रि-परिषद्) नियमों की रचना में आवश्यक संकल्प -शक्ति प्रदान करता है। उसके ही संकल्प से नियमों का प्रादुर्भाव होता है उसकी नीति ही विवाद का मुख्य विषय होती है। यदि सभा को भंग करने की शक्ति राज्य के व्यवहारिक प्रधान (अध्यक्ष, राष्ट्रपति, नरेश आदि) के हाथ में होगी तो उसके उपयोग के कारण उसकी तटस्थता (पार्टियों से ऊपर रहने) के विषय में ही गम्भीर समस्या पैदा हो जायगी। स्वतः व्यवस्थापक सभा में यह अधिकार इस लिये नहीं हो सकता कि अपने को ही भंग करने की सम्मति देने की अबुद्धिमानी कौन करेगा। यदि इस अधिकार का ना समझदारी के साथ प्रयोग होगा तो निर्वाचक ना पसन्द करेगा। जो लोग इसका बुद्धिमानी के साथ प्रयोग नहीं करेंगे, वे कुछ समय में अपने ही दल के समर्थकों द्वारा, अधिकार-च्युत कर दिये जाँयगे। कार्यकारिणी के हाथों यदि सभा को यकायक भंग करने का अधिकार होगा तो इससे एक लाभ यह भी होगा कि यह अपने समर्थकों तथा विरोधियों को, दोनों को ही, अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन न होने देगा। ऐसे अधिकार में एक ऐसा नाटकीय गुण होता है कि निर्वाचक व्यवस्थापक सभा के कार्यों में निरन्तर रुचि लेता रहता है। इसी दृष्टि कोण से यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि व्यवस्थापक सभा तभी सबसे अच्छा काम कर सकती है जब उसमें सरकारी पक्ष का बहुमत इतना काफी बड़ा होता है कि वह समुचित कार्यक्रम को पूरा कर सके, पर इतना अधिक बड़ा नहीं होता कि उसे अत्यधिक अधिकार मिल जावे। राजनीति में जन साधारण तभी बड़ी तीव्र रुचि लेता है जब राज्य की सरकार, व्यवस्थापक सभा में पराजय की सम्भावना की छाया में काम करती चलती है।

मैंने यह समझा दिया है कि आज के राज्य में रचनात्मक रूप में काम करने तथा होने के लिये अधिकार का विकेन्द्रीकरण होना चाहिये। व्यवहारिक तौर पर, व्यवस्थापक सभा के द्वारा ही राज्य के वैध

निर्देशों की रचना, होनी चाहिये, पर उसके सफल कार्य-सञ्चालन के लिये यह अभीष्ट है कि उसके बहुत से अधिकार अन्य आधीन संस्थाओं के जिम्मे कर दिये जाँय। ऐसा तीन प्रकार से हो सकता है: (१) ऐसे सभी विषय जो भौगोलिक-दृष्टि से विचारणीय हैं, जैसे स्थानीय यातायात, वे सब समुचित सीमा पर नियंत्रण रखने वाली निर्वाचित संस्थाओं के जिम्मे कर दिये जांय। जो बातें इनके अधिकार के बाहर की खास तौर से निश्चित की जा चुकी हैं, उनको छोड़कर शेष बातों में इनको पूरा अधिकार होना चाहिये। एक ही उद्देश्य (समान कार्य) का पूर्ति के लिये इनको बराबर मिलकर काम करने का अधिकार होना चाहिये। कुछ मामलों में, जैसे शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य ऐसे विषयो में, केन्द्रीय सरकार को इनसे सम्बंध बनाये रखने के लिये "सरकारी आर्थिक सहायता" तथा उन कार्यों के निरीक्षण का अधिकार होना चाहिये।

(२) केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा द्वारा निर्धारित कम से कम शर्त्तों तथा हिदायतों की अन्तर्गत उद्योग धंधों के लिए नियम बनाने की शक्ति सम्पन्न ऐसी छोटी सभायें बना देनी चाहिए, जो समुचित संरक्षणों की मर्यादा में रहकर, ऐसे कायदे-कानून बनाये जो अनिवार्य्यतः लागू किये जा सकें। वकालत या डाक्टरी के पेशों पर नियंत्रण तथा अनुशासन रखने वाली संस्थाओं के समान, उद्योग धंधों के लिए भी स्वायत्त शासन की प्रथा का विकास करना चाहिए। (३) राज्य के आधीन ऐसी संस्थाओं में, संयुक्तराज्य, अमेरिका के अन्तराज्यीय वाणिज्य कमीशन या ग्रेट ब्रिटेन के बिजली कमीशन की तरह, विशिष्ट विषयों में व्यापक नियम बनाने के अधिकार का आविर्भाव होना चाहिए जो (अ) सरलता पूर्वक व्यवस्थापक सभा के लिए विवादास्पद विषय न हो तथा (ब) कार्य-रूप में, स्पष्टतः किसी सीमित क्षेत्र के लिए ही फलदायक न हों, स्वभावतः इन तीनों बातो में, इनके कार्यों की, निर्णयों की समीक्षा तथा पुनरावृत्ति का अधिकार व्यवस्थापक सभा में

अन्तर्व्याप्त है, पर यह आमतौर पर मानी हुई बात है कि अन्तर्व्याप्त अधिकार का जितना ही न्यून तम तथा नाम मात्र का रूप रहेगा, उतना ही अच्छा इन तीनों प्रथाओं का कार्य-सञ्चालन तथा शासन होगा।

(३)

राज्य की कार्यकारिणी के दो पहलू होते हैं। राजनैतिक और विभागीय। एक तरफ तो यह मुट्ठी भर राजनीतिज्ञों का एक गुट होता है जो व्यवस्थापक सभा की स्वीकृति के लिए किसी नीति की सिफारिश करता है और मंजूरी मिल जाने पर उसे लागू करने का जिम्मेदार होता है, दूसरी तरफ राजनीतिज्ञों के निर्णयों का पूरा करने वाले अफसरों की कहीं अधिक बड़ी संख्या की टोली होती है। जाहिर है कि कार्यकारिणी के ये दो पहलू अधिकार से अधिक व्यक्तियों की भिन्नता के कारण, एक-दूसरे से पृथक् प्रतीत होते हैं। इसलिए की लम्बा अनुभव प्राप्त कोई महत्व पूर्ण अफ़सर नाम के लिए अपने राजनैतिक मुखिया का मातहद होते हुए भी अपने स्वामी पर काफी प्रभाव रखेगा और अपने विभाग से सम्बंध रखने वाले निश्चयों को पर्य्याप्त रूप से प्रभावित करेगा।

राज्य के राजनैतिक प्रधानों को साधारणतः मंत्रिमण्डल कहते हैं। अच्छे शासन के लिए यह उचित और आवश्यक है कि इसके सदस्य व्यवस्थापक सभा के सदस्य हों। उसी से वे अधिकार ग्रहण करते हैं और उसके प्रति ही उनको उत्तर दायी होना चाहिए। साधारण तौर पर इसका मतलब यह हुआ कि एक ही दल के सदस्यों का मंत्रि-मण्डल होना चाहिए क्यों कि तभी उनके दृष्टिकोणों में वह सकता होगी जिससे सुसम्बद्ध नीति के अनुसार काम हो मंत्रिमण्डल को छोटा होना चाहिए, यदि इसकी सदस्य.संख्या एक दर्जन से अधिक हुई तो अनुभव यह बतलाता है कि उसके भीतर का आन्तरिक शृंखला

(सम्बद्धता) टूट जाती है। उसके ज्यादातर सदास्यों को शासन के महान कार्यों का जिम्मेदार होना चाहिए, जैसे विदेशी, आर्थिक, व्यवसायिक नीति आदि। पर इसके लिये, प्रत्यक्ष रूपसे, परस्पर-सम्बंध बनाये रखने तथा सञ्चालन के लिए एक ऐसे मष्तिक की आवश्यकता है जो किसी एक विभाग के लिए जिम्मेदार न हो तथा उसके साथ काम से कम एक ऐसा मंत्री हो जिसे हम "बिना विभाग का मन्त्री" कहते हैं, जो विशेष अवसर पर ही, काम में लाया जा सके।

संयुक्तराज्य अमेरिका की तरह, मंत्रिमण्डल का प्रधान राज्य का भी व्यवहारिक प्रधान हो सकता हैं, या इङ्गलैण्ड या फ्रांस की तरह, राज्य का प्रधान, मंत्रिमण्डल के प्रधान से भिन्न होता है और वह अधिकांशतः एक शोभा की वस्तु होता है जिसका राजनैतिक काम केवल इतना ही है कि शासन का काम निरंतर चलता रहे। इन दोनों प्रथाओं में कोई किसी से आन्तरिक रूप से अधिक महान है, यह नहीं कहा जा सकता। पर, दूसरी प्रथा में—यानी इङ्गलैण्ड या फ्रांस की प्रथा में, मंत्रिमण्डल का प्रधान होने के कारण प्रधान मंत्री को व्यवस्थापक सभा में भाग लेना आसान होता है। साधारणतः वह उस दल का प्रधान होता है जिस की व्यवस्थापक सभा में प्रधानता होती है। अधिकांश देशों में, दल का प्रधान ही, नेता ही, सामूहिक रूप से राज्य के अतिकुशल सञ्चालन की क्षमता रखने वालों को अपना सहयोगी चुन लेता है। दूसरी तरफ, आस्ट्रेलिया में, अपने दल के सञ्चालकों में से, मजदूर दल ही मन्त्रिमण्डल चुन देता है।

इस सम्बंध में शंका का कोई कारण नहीं दीखता कि प्रधान मंत्री को ही अपना सहयोगी चुन लेना चाहिये। केवल चुन लिये जाने (निर्वाचन में) से ही किसी सरकारी विभाग का कार्य—सञ्चालन की आवश्यक योग्यता का आसानी से अनुमान नहीं होता। सहयोगी बन

कर तथा एक साथ मिल कर काम कर सकने की योग्यता की समस्या हल करने के लिये भले बुरे की काफी पहचान करनी पड़ेगी। मत देने की वर्त्तमान प्रथा से ऐसी पहचान नहीं हो सकती। मान लिया कि प्रधान मंत्री केवल भूलें ही नहीं करेगा, वह हरेक मामले को अपने ही तराजू से तौलने पर जोर देगा। फिर भी, वह आस्ट्रेलिया की मजदूर पार्टी से कम भूल करेगा, या राष्ट्रपति को चुनने के समय अमेरिकन जनता जितनी भूल कर सकती है, उससे कम की ही सम्भावना है। दूसरी प्रथा बहुत कुछ लॉटरी डालने की तरह से है और इस विषय में बेगेहौट ने सच लिखा है कि लॉटरी में कामयाब होना यह साबित नहीं करता कि उसका तरीका भी अच्छा हो,, प्रधान मंत्री द्वारा अपना सहयोगी चुनने के काम की जो मर्यादा तथा सीमा है, वही उचित चुनाव के पक्ष में संरक्षण हो हरेक दल में, ऐसे नेता के समान ही योग्यता तथा महत्व के लोग होते है। ऐसे ही लोगों को प्रधान मंत्री अपना सहयोगी चुनेगा और ये लोग तभी उसके साथ काम करना स्वीकार करेगे, जब अन्य सहयोगियों के चुनने में उसकी बुद्धिमानी देख लेंगे। यह मान लेने पर कि व्यवस्थापक सभा की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे "उम्मीदवारी" में सफल हो चुके हैं, यह भी स्वीकार करना होगा कि मंत्रिमण्डल में भिन्न पदों के लिये चुने गये (पसन्द किये गये) लोग जिस पद को प्राप्त कर रहे हैं, उसके लिये वास्तव में वे व्यवस्थापक सभा द्वारा ही नामज़द किये गये थे।

कार्यकारिणी द्वारा शासन सञ्चालन की प्रणाली के अ—राजनैतिक पहलू से दो समस्या में पैदा होती हैं। वास्तव में, आमतौर पर, तीन सवाल हैं। (१) ऐसी कार्य कारिणी की रचना और संगठन कैसा है। (२) इसके काम क्या है ? (३) जिस जनता की वह सेवा करती है, उससे उसका क्या सम्बंध है। जाहिर है कि अगर हम दूसरें सवाल का जवाब दे दें तो पहला और तीसरा का भी जवाब हो जाता है। राज्य के सरकारी कर्मचारी अपने राजनैतिक प्रधानों की आज्ञा का

पालन करते हैं। मंत्री का काम है ऐसी नीति निर्धारित करना जो जन समूह की अधिक से अधिक माँग पूरी कर सके तथा व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकार कर ली जाय। तभी इसकी सफलता को चरितार्थ करने की—नीति के सफल सञ्चालन की दुहाई दी जा सकती है। यह भी जाहिर है कि आजके विशाल राज्यों में, मंत्री केवल सरसरी तौर पर पर ही अपना काम देख सकता है। इसलिये जनता की माँग क्या है, विस्तार पूर्वक ऐसी कौन सी विधि बनायी जाय कि उनकी माँग पूरा की जा सके और किस प्रकार से वह नियम नित्यप्रति अमल में लाया जा रहा है—इन सब बातों के लिये वह अपने कर्मचारियों पर निर्भर करता है। इसलिये, अधिकारुढ़ दल की नीति चाहे कुछ भी हो, राज्य के काम इस ढंग से किये जाते हैं कि कम से कम विरोध पैदा हो।

इसीलिए, इसी लक्ष्य से, सरकारी कर्मचारी वर्ग को पूरी तरह से तटस्थ रहना चाहिए। वे जिस योग्यता तथा लगन से एक दल के अधिकार में आने पर उसकी सेवा करते हैं उसी प्रकार दूसरे दल की भी करें। उनको तटस्थ रखने के लिए यह जरूरी है कि इस बात की गारण्टी रहे कि अगर वे अपना काम करने में दक्ष हैं तो उनकी नौकरी स्थायी रहेगी। उनको अधिक से अधिक काम करने के लिए प्रोत्ससहित करना चाहिए। पद में तरक्की करने की प्रथा द्वारा उनकी योग्यता को अधिकतर सीमा में विकसित होकर, उचित मान तथा सम्मान प्राप्त करने का अवसर देना चाहिऐ ताकि वे उसी अनुमान में, जिम्मेदारी से लादे जाँय। सरकारी कर्मचारी में इन गुणों को प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि उनका चुनाव ऐसी संस्था (कमीशन) के हाथों हो जो सरकार से स्वतंत्र है, उसके प्रभाव से परे है। इस कमीशन पर सरकार जितना कम प्रभाव रखती होगी, उतनी ही राज्य के हित में होगा। आम तौर पर, कर्मचारियों के चुनाव में कमीशन को ऐसी नीति बरतनी चाहिए जिससे विशिष्ट स्थानों के लिए चुनाव छोड़कर, किसी नियुक्ति में पक्षपात को कम से

कम स्थान मिले। विशिष्ट यानी टेकनिकल नियुक्ति की बात दूसरी है। एक बार सरकारी नौकरी में आजाने के बाद, यदि कर्मचारी सुयोग्य तथा सद्—व्यवहारी है तो उसको यह निश्चित रूप से मालूम हो जाना चाहिए कि जब तक उसके विश्राम लेने (रिटायर) का समय न आ जाय, वह अपने स्थान पर क़ायम रहेगा, मुस्तकिल रहेगा। काम से विश्रान लेने की उम्र काफ़ी जल्द होनी चाहिए, काम की अवधि को छोटा रखना चाहिए ताकि विभागों के प्रधान कर्मचारी के पद पर ऐसे ताजे मस्तिष्क आते रहें जो अपनी पीढ़ी की नयी विचार धारा से सम्पर्क रखते हों।

यह भी जरूरी है कि सरकारी कर्मचारियों की श्रेणियाँ जितना अधिक सम्भव हो, लचकीली हो। कर्मचारी वर्ग से नौकरशाही हो हो जाने का भय रहता है। ऐसी नौकरशाही खड़ी करने का सबसे सीधा तरीक़ा है काम करने की परिपाटी को तथा केवल अधिक अवधि तक काम करने पर उन्नति करने की प्रथा को एक दम ठोस बना देना। सरकारी कर्मचारियों के सम्बंध में एक खतरा हमेशा रहता है कि वे काम करने की परिपाटी को सुयोग्य रूप से कार्यसञ्चालन की विधि मान लें तथा प्राचीनता को अनुभव का प्रतीक समझ लें। प्रेरणा तथा प्रयोगात्मक बुद्धि से काम करने में उन्हें भय लगता है और वे यह सोचने लगते हैं कि सु-सञ्चालित विभाग का प्रणाम यही है कि बाहर से किसी प्रकार के आक्रमण से वह सुरक्षित है। नागरिक सेवा अर्थात सरकारी कर्मचारी वर्ग की पहली आवश्यकता है उसको ऐसी फलों के खतरे से बचाना। इनसे बचने के कोई स्पष्ट नियम नहीं है। बहुत कुछ मिलजुल कर काम करने की कर्ममचारी-प्राकृत्ति से भी अधिक, राजनैतिक प्रधानों पर निर्भर करेगा। पर, इस बारे में खास बात यह होनी चाहिए कि सार्वजनिक विचार धारा के अधिकारी प्रतिनिधियों की आलोचना के वातावरण में सरकारी कर्मचारी वर्ग को काम करना चाहिए।

सरकारी कर्मचारियों को जनता की सेवा करनी है, इसलिए जनता द्वारा ही उनकी परीक्षा, उनका फैसला होना चाहिए। यदि सेवा और परीक्षा को समुचित रूप से चलाना है तो शासन प्रणाली के साथ जनता का उचित सम्पर्क होना चाहिए। इसी उद्देश्य से, परामर्श दात्री समितियों की योजना प्रथम महत्व रखती है। जिस किसी विभाग का किसी सामाजिक हित से सम्बंध हो, जिन संस्थाओं द्वारा इन हितों का पतिपादन होता है, सलाह-मशिवरा का सहयोग देने के लिए उन संस्थाओं का उस विभाग से सम्बन्ध होना चाहिए। उदाहरण के लिए, शिक्षा विभाग को, अध्यापक, चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक तथा विद्यार्थियों के अभिभावकों की संगठित संस्थाओं से लगातार सम्पर्क रखना चाहिए। ऊपर लिखे उद्देश्य को पूर्त्ति के लिये सम्पर्क स्थापित करने के लिये उचित विधियाँ निकालनी पड़ेंगी अन्यथा शासन में नई चीज़ें पैदा करने की अर्थात् रचनात्मक प्रकृत्ति का अभाव ही केवल न होगा अपितु उसके कार्य के परिणामों के सम्बंध में वह तीव्र तथा कटु भावना न हो सकेगी जिससे उसकी योग्यता की असली परख की जा सके। जनता तथा सरकारी कर्मचारी वर्ग की परस्पर शिक्षा के लिये परामर्श दात्री समिति से अच्छा दूसरा उपाय नहीं है। कर्मचारी वर्ग शासन की कला आग्रह द्वारा सीखता है। जनता यह पता लगाती रहती है कि कर्मचारी समुदाय जो काम करने का दावा करता है, उसमें स्वाभाविक रूप से मिलाजुला प्रचार और लालसायें, उस दावे को कितना ग़लत साबित करती रहती हैं। वैधानिक शासन की सफलता का बहुत कुछ श्रेय इस प्रणाली को कार्यान्वित करने की सफलता पर निर्भर करता है।

इस विषय को समाप्त करने के पहले, संक्षेप में सरकारी कर्मचारियों की तटस्थता के कुछ परिणाम तथा राज्य के सेवक के रूप में उनकी स्थिति पर विचार कर लेना चाहिए। यदि कर्मचारी वर्ग की तटस्थता में जन समूह तथा सरकार, दोनों का समान विश्वास बनाये रखना

है तो मेरी समझ में यही उचित होगा कि जो कर्मचारी नीति निर्धारित करने में भाग लेते हैं, वे राजनैतिक जीवन से बिलकुल अलग रहें। छोटे कर्मचारियों का अलग रहना जरूरी नहीं है। पर कोई भी मंत्री, मान लीजिए कि वह अनुदार दल का है, अपने विभाग के उस स्वामी सचिव (सेक्रेटरी) पर पूरा विश्वास न कर सकेगा जिसके विषय में उसे मालूम है कि वह अपना सायंकाल का समय उत्कट समाजवादी प्रचार में लगाया करता है। तर्क द्वारा, यही रुकावटें राजनैतिक उम्मीदवारों के लिए लागू होती हैं। किसी उच्च कर्मचारी को यह आशा न करनी चाहिए कि वह व्यवस्थापक सभा की सदस्यता के लिये खड़ा होगा। अगर जीत गया है तो ठीक है। यदि हार गया तो फिर अपनी नौकरी पर वापस आ जायगा। यहाँ पर जो बात सरकारी (नागरिक) कर्मचारियों के लिये कहीं गई हैं, वह राज्य की सेना तथा पुलिस के लिये और भी अधिक तीव्रता के साथ लागू होती है। यदि उनमें राजनैतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हों गईं तो राज्य के अ—सैनिक कर्मचारियों की आज्ञाओं के त्वरित तथा निष्प्रश्न पालन की प्रथा के लिए घातक सिद्ध होगी। साधारण परिस्थितियों, राज्य के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि सेना तथा पुलिस कर्मचारी वर्ग तथा तत्कालीन सरकार की आज्ञा का पालन आँख मूँद कर करे। राज्य की धुरी ही ऐसी बात पर निर्भर करती है और ऐसे मामलों में यदि सेना तथा पुलिस किसी प्रकार का पक्षपात करने लगी तो उस राज्य में निरंकुश शासन की स्थापना में देर न लगेगी।

अवश्य इससे यह प्रश्न पैदा होता है कि सरकारी कर्मचारियों को परस्पर सम्पर्क स्थापित करने तथा संगठन करने का स्वाधीनता किस सीमा तक दी जावे। यह बड़ा टेढ़ा सवाल है और यहाँ पर मैं धर्म विषय की तरह कुछ निष्कर्ष बतला दूँगा राज्य के साथ पुलिस तथा सेना का जो सम्बंध है, उसके कारण यह जरूरी है कि कानुनन उनको हड़ताल करने का, काम बन्द करने का अधिकार न हो पर इस के मुआविजे

में इनको अपने विभाग के स्वशासन (स्वयं सञ्चालन) को पूरी तरह से उन्नत करने का अधिकार मिलता है जिससे इनका हरेक अंग काम करने के अपने तरीकों तथा शर्तों का स्वयं फैसला कर सके और जब कभी सरकार तथा इनके बीच में मतभेद पैदा हो उस विषय का निर्णय स्वतंत्र पञ्चायत द्वारा हो, यह पञ्चायत इङ्गलैण्ड के "इण्डास्ट्रियल कोर्ट" की तरह से काम करेगी अन्य प्रकार के सरकारी कर्मचारियों के लिए ऐसा प्रतिबंध न तो होना चाहिए और यदि ऐसा करने की चेष्टा की गई तो उसे चरितार्थ किया जा सकेगा। अवश्य राज्य को यह अधिकार है कि वह कोई ऐसी योजना तथा सस्था बनाये जो इस बात पर जोर दे कि सरकार तथा सरकारी कर्मचारी वर्ग में कोई विरोध पैदा होने पर, कर्मचारी वर्ग हड़ताल करने के पहले उसकी मध्यस्थता स्वीकार करें। यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि ऐसी मध्यस्थता आमतौर पर सफल होती है। पर मेरी समझ में, मालिक की हैसियत से राज्य को सर्व—प्रभुत्व या स्वामित्व के अधिकार का दावा करने का हक़ है। ऐसे मौकों पर, अन्य मालिकों की तरह उसका यही काम होना चाहिए कि अपने कर्मचारियों को अपने कार्य के औचित्व के प्रति राजी कराकर, स्वीकार कराकर, उनकी भक्ति प्राप्त करना चाहिए। सरकारी कर्मचारियों को, अपनी अवस्था सुधारने के के लिए उसी प्रकार के साधारण उपाय करने चाहिए जो कि व्यवसाय संघ अपने सदस्यों की काम करने की दशा तथा मज़दूरों की स्थिति में सुधार के लिए करता है। मेरी समझ में नहीं आता कि छोटी श्रेणी के कर्मचारियों को, अन्य उद्योग धंधों में लगे हुए उन्हीं के समान स्थिति वाले मज़दूरों की तरह, जिस प्रकार वे उचित समझें, अपनी दशा सुधारने का अधिकार क्यों नहीं दिया जाता। जो क्लर्क या डाँकिये यह समझाते हैं कि उनके साथ उचित व्यवहार नहीं हो रहा है, उनके लिये सरकारी मुहक्में में काम करने की शान ही काफी मुआविजा नहीं हो सकती।

(४)

मैंने यह समझा दिया है कि राज्य के कार्य संचालन में न्यायालय की स्वतंत्र सत्ता रखना महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसको लक्ष्य में रखते हुए, तीन बातें जरूरी हैं (१) न्यायाधीशों की नियुक्ति इस ढंग से हो कि उनके चुनाव में राजनैतिक धारणाओं की कम से कम सम्भावना हो' (२) जो आदमी नियुक्त हो, यदि उसका चाल चलन ठीक रहे, तो उसका कार्यकाल स्थायी रूप से निश्चित तथा सुरक्षित रहे, (३) इनकी तरक्की केवल कानूनी लियाकत तथा ख्याति के कारण होनी चाहिए। पहली बात में, जनता या व्यवस्थापक सभा द्वारा चुनाव का स्पष्ट निषेध है। व्यवस्थापक सभा के लिये प्रतिनिधियों के चुनाव में जो रीति बरती जाती है, वह रीति न्याय के पद का भार सम्भालने की योग्यता का निर्णय नहीं कर सकती। इसलिए इस सम्बन्ध में तीन ही उपाय सम्भव प्रतीत होते हैं। फ्राँस की तरह, न्याय-कार्य के लिये पदाधिकारी का चुनाव प्रतिद्वन्दी परीक्षा द्वारा हो सकता है, उच्च पदों के लिए उन्नति योग्यता का प्रयोग मिलने पर ही होती है। इस प्रथा के समर्थन में काफी कहा जा सकता है। इसने फ्राँस को न्यायाधीशों की एक पण्डित-मण्डली प्रदान की है। इस मण्डली में अपने कार्य की प्रतिष्ठा तथा मर्यादा की भावना उच्च रुपेण उन्नत है। पर, इस प्रथा के सम्बन्ध में मेरा सन्देह यही है कि न्यायाधीश में जिन गुणों का होना आवश्यक है, उनकी परख नियुक्ति की इस प्रणाली में नहीं हो सकती। और, ग्रेट ब्रिटेन के न्यायाधीशों की तुलना में, फ्रेंच न्यायाधीशों का दृष्टिकोण समुचित रूप से कानूनी होता है। साधारणतः वह अच्छा न्यायाधीश होता है, पर जिस संकुचित संयम के भीतर उसका जीवन बीतता है, वह न्याय की बातों के अलावा और किसी अनुभव से दूर हो जाता है। दूसरी प्रथा इङ्गलैण्ड की है तथा संघ के लिए नियुक्तियों में, संयुक्तराज्य, अमेरिका की है जहाँ छोटी तथा बड़ी अदालतों के लिये, कार्यकारिणी

(मंत्रि मण्डल) ही न्यायाधीशों को नामज़द करती है। इस प्रणाली द्वारा हमको धुरंधर न्यायाधीश प्राप्त हुए हैं पर पिछले सौ वर्षों की नियुक्तियों की सूची ध्यान पूर्वक देखने से यह स्पष्ट मालूम होगा कि इन नियुक्तियों में राजनैतिक-धारणाओं ने काफी भाग लिया है। मैं एक तीसरी विधि बतलाता हूँ। जिसमें न्यायाधीश गण स्वयं भावी नियुक्तियों के लिए नामावली तय्यार कर कार्यकारिणी के पास भेज दें और बहुत ही विशेष बात होने पर नामावली से बाहर के नाम लिए जाँय। इसी प्रकार, न्यायाधीश वर्ग तरक्की के सम्बन्ध में भी स्वयं ही सिफारशें करे। केवल इतना ध्यान रखा जावे कि केवल पाँच वर्ष से इस पद पर काम करने वालों की तथा अपने पद से विश्राम लेने के लिए पाँच ही वर्ष या कम शेष रहने वालों की सिफारिश न की जाय। मेरी सम्मति, यह भी जरूरी है कि न्यायाधीशों को यह अधिकार दिया जावे कि १५ वर्ष तक इस पद पर काम करने के बाद वे चाहें तो अपने कार्य से विश्राम ले सकते हैं। दूसरी बात यह भी जरूरी है कि ७० वर्ष की उम्र हो जाने पर न्यायाधीश को अनिवार्य्यतः विश्राम दे दिया जाय।

इस प्रणाली से लाभ प्रकट हैं। हमारी अदालतों में केवल ऐसे लोगों की नियुक्ति का भय न रहेगा जो शुरु जवानी से ही, एक संकुचित दायरे में, एक पेशे वाली जाति का सदस्य होने के कारण, विश्व की अन्य बातों से कोई सरोकार ही नहीं रखते। इसके द्वारा जिस सीमा तक एक वकील अपनी राजनैतिक सेवाओं के बदले में नियुक्ति तथा तरक्की पा सकता है, उसकी सम्भावना बहुत कम हो जाती है। यदि अदालतें स्वयं पहले एक नामावली तय्यार कर कार्यकारिणी के पास विचार के लिए भेजती हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि वे अपना दावा साबित करती हैं कि उस काम में उनकी दक्षता, तथा अनुभव के कारण वे यह बता सकती हैं कि किस आदमी में न्याय करने की योग्यता है। कार्यकारिणी इस नामावली में यदाकदा

संशोधन के अधिकार द्वारा अदालतों के अनुचित पक्षपात के खतरे से बचाता है। यहाँ पर यह भी कह दूँ कि मैं, इङ्गलैण्ड की तरह, साधारण आदमी को उसकी छोटी-छोटी राजनैतिक सेवा के कारण छोटी अदालतों में विचारक बनाने की प्रणाली को अबांधनीय समझता हूँ। साधराण आदमी का काम "जूरी" बनना है, खास तौर से अपराध के मामलों में। उसे विचारक (न्यायाधीश) के काम में सहायक होना चाहिए। किन्तु जिन मामलों में बहुत ही विशेषज्ञों द्वारा वास्तविकता की छानबीन करना आवश्यक होता है, वहाँ साधारण जूरी की आवश्यकता भी सन्देहजनक हो जाती है। इस दिशा में, जूरी प्रणाली रखने की सूरत में, भिन्न प्रकार के अनुभवी व्यक्तियों की विशेष सूची रखनी चाहिए जिनके विशेष अनुभव से विशेष महत्व के मामले में निरर्भय प्राप्त किया जा सके।

किसी भी सुव्यवस्थित राज्य में चार सिद्धान्तों द्वारा क़ानून का सञ्चालन होगा। क़ानून की ज़िम्मेदारी शासकवर्ग तथा साधारण नागरिक के लिये समान होगी। उस राज्य में नियमों की सही व्यवस्था चल ही नहीं सकती जहाँ पर नियमों को कार्यान्वित करने वाले उसकी सीमा की अवज्ञा के दोष से मुक्त हों। प्रभुत्व का मतलब यह नहीं है कि उसके नाम पर काम करने वाले गैर-ज़िम्मेदार हो जाँय। और जहाँ पर कार्यकारिणी को नियम बनाने का कुछ अधिकार प्राप्त है—व्यवस्थापक सभा द्वारा उसे इस सम्बंध में कुछ अधिकार मिल चुका है, वहाँ पर ऐसे अधिकार की वैध सीमा का निर्णय सदैव साधारण अदालतों द्वारा होना चाहिये। यह भी नितान्त आवश्यक है कि अदालत की शरण में जाने की रीति इतनी मँहगी न हो कि ग़रीब नागरिक उन तक पहुँच ही न पाये। बेकार के बहुत से मुक़द्दमों के हो जाने में कोई हानि नहीं पर किसी भी व्यक्ति के मन में यह शंका न होनी चाहिये कि साधन के अभाव में वह अदालत की शरण नहीं ले सकता। राज्य को न्यायशासन की प्रथा में सुधार करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील

रहना चाहिये। इस उद्देश्यों से केवल यही आवश्यक नहीं है कि अदालतों की, खासकर अपराधों पर विचार करने वाली अदालतों की उन्नति न्याय शासन की गतिविधि की निरन्तर जाँच होती रहे, किन्तु यह भी महत्व पूर्ण है कि इन में भाग लेने वाले, उनके कार्य-सञ्चालन के सबंध में अपने अनुभवों को लिपि-बद्ध करते रहें। आज के युग में यह अत्यावश्यक है कि न्यायाशासन तथा नियमों में निरन्तर सुधार के लिये एक स्थायी कमीशन हो जिसमें न्यायाधीश वकील तथा साधारण जन समान रूप से भाग लें।

(५)

मैने ऊपर बराबर सार्वजनिक विचार की महत्ता का जिक्र किया है। इस विवाद को समाप्त करने के पहले यह असम्भव है कि चाहे थोड़ा ही सही, इसके मूल तत्त्व की कुछ समस्याओं पर दृष्टिपात न किया जाये। दो बातें साफ हैं। जनमत का मूल्य उन सूचनाओं की सत्यता पर निर्भर करेगा, जिसके आधार पर सार्वजनिक विचार बनते हैं। जिस अंश तक यह जनमत संगठित होगा, उसी के अनुसार उसका प्रभाव पड़ेगा। दूसरी बात को सबसे अच्छा ढंग से यह कह कर व्यक्त किया जा सकता है कि साधारण सार्वजनिक विचार ऐसी बिरली ही वस्तु होती है। होता यह है कि उपस्थित होने वाली समस्याओं पर अनेक धाराओं में सार्वजनिक विचार विकसित होते हैं। इन विचारों की शक्ति उनको प्रगट करने वाले संगठन तथा उनके ज्ञान पर निर्भर करती हैं।

आधुनिक समाज की सूचना तथा जानकारी की सत्यता की समस्या पर जो भी विचार करेगा, पहले तो उसकी विषमता से चकरा जायगा; दूसरे उसे यह भी मालूम होगा कि ऐसी सूचनाओं के संकलन तथा वितरण में वास्तविकता को सही ढंग से समझने समझाने की कोई चेष्टा नहीं की जाती। यदि किसी समाचार का आधार किसी से सम्बध रखने

वाला हुआ तो बहुत प्रचार का रूप धारण कर लेता है। अ-समान समाज में, हरेक संवाद को आर्थिक शक्ति रखने वालों के पक्ष में तोड़ मरोड़ लिया जाता है। अधिकांश लोगों को सूचना या संवाद प्राप्त करने के लिये समाचार पत्रों पर निर्भर करना पड़ता है। इन समाचार पत्रों की जीविका विज्ञापनों पर निर्भर करती है। समाचारपत्र निकालना इतनी मंहगी चीज है कि केवल धनी वर्ग ही इन्हें प्रकाशित कर सकता है। किन्तु विज्ञापनों पर निर्भर करने के कारण वे ऐसे समाचार तथा आलोचनायें प्रकाशित करते हैं जो विज्ञापनदाता की विज्ञापित वस्तुओं के ग्राहकों का सन्तुष्ट कर सकें। अन्यथा, जो लोग अपनी माँगों का पूर्ति की शक्ति रखते हैं, उनके बीच इस पत्र का प्रचार न हो सकेगा। इसका परिणाम यह होता है कि समाचारों का ऐसा रंग कर छापा जाता है कि उनकी असली सूरत के प्रकट होने से धनी वर्ग को कोई उलझन न होने पावे। रूसी राज्यक्रान्ति, कोई बड़ी हड़ताल, राष्ट्रीयकरण के अंतर्गत उद्योग धंधे की प्रगति—ऐसी घटनायें ऐसा बिगाड़ कर छापी जाती हैं ताकि उस समाचार-पत्र के पाठक पर उनके विपक्ष में असर पड़े। उसे वास्तविकता का, घटनाओं का ज्ञान ऐसे आईने द्वारा होता है जिसमें किसी विशेष स्वार्थ की पूर्ति के लिये, उनका चित्र काफी बिगाड़ कर दिया जाता है। जब तक किसी सरकारी नीति के फल के सम्बंध में मानव के स्वार्थों में असमानता होगी, इस नीति से सम्बंध रखने वाली घटनाओं को इस ढंग से चुना तथा तौला जायेगा कि उनका असली अर्थ प्रकट हो न पावे। केवल समान अधिकार वाले समाज में सची बातें छापने से लाभ होता है।

अन्त में, यह स्पष्ट है कि जनमत जिस अंश तक संगठित होगा, उतना ही शक्ति शाली होगा। संगठन करना आर्थिक शक्ति का ही मुख्य कार्य है। दरिद्र व्यवसाय-संघियों की एक बड़ी संस्था की तुलना में धनी खान-मालिकों की एक छोटी संस्था संगठित करना कहीं आसान है। इस दूसरी प्रकार की संस्था को एकता पूर्वक सुसम्बद्ध

रूप से चलाना कहीं सरल है। इसके कार्य में भूलों की कटुता उतनी तीव्र नहीं होती; सफलता का परिणाम अधिक प्रत्यक्ष होता है। आर्थिक शक्ति अपनी बुद्धि के अनुपात से कहीं अधिक ज्ञान पर अधिकार जमा लेती है। जितनी उसमें बुद्धि होती है, उससे कहीं अधिक ज्ञान वह खरीद लेती है। वह उचित अवसर की प्रतीक्षा कर सकता है, ऐसी प्रतीक्षा में उसकी साधारण जीवन चर्या में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हो जाता। पर, जिन लोगों में आर्थिक शक्ति नहीं है, उनके संगठन में ऐसी मजबूती नहीं होती। इसके मुख्य हथियार, जैसे हड़ताल, इतने मँहगे पड़ते हैं कि वह उनका उपयोग नहीं कर सकते। ज्ञान को खरीदने की शक्ति इनमें कहीं कम होती है। दूसरे, ज्ञान (विद्या) रखने वालों की जो मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि होती है वह ऐसे ग़रीबों के संगठनों के साथ मेल नहीं खाती। संक्षेप में, असमान समाज में जनमत केवल नैतिकता के नाम पर कोई दावा नहीं कर सकता। अ-समान शक्ति के कारण उनके हितों का, स्वार्थों का रूप इतना बिगड़ जाता है कि उनके प्रति न्याय की भी सीमा बँध जाती है। जब तक समाज में आर्थिक शक्ति के वितरण में घोर असमानता रहेगी, नागरिकों के माँगों की समान रूप से पूर्त्ति करने वाली कोई सामाजिक व्यवस्था न हो सकेगी तथा उनके अधिकारों को समान रूप से स्वीकार करने का कोई गम्भीर प्रयत्न न होगा।

———

चतुर्थ अध्याय

राज्य और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय

अभी तक हमने राज्य तथा उसके नागरिकों के सम्बंध की समस्याओं पर विचार किया है। पर, वास्तव में आजकल के संसार में, हरेक राज्य केवल अनेको में से एक है, और स्यात् सबसे महत्वपूर्ण विषय तब पैदा होता है जब एक राज्य तथा उसके नागरिकों का दूसरे राज्य तथा उसके सदस्यों से सम्बध होने के कारण बाहरी (विदेशी) सम्बंध की समस्यायें सामने आती हैं। जो सिद्धान्त ऊपर प्रतिपादित किये जा चुके हैं, उनके अनुसार एक राज्य दूसरे राज्य को हुक्म नहीं दे सकता क्यों कि यदि ऐसा होने लगे तो हुक्म पाने वाले राज्य के शास्त्री तथा वैध निर्देशों का वह रूप ही बदल जायगा जिनके ऊपर राज्य का राज्यत्व निर्भर करता है।

और, यह जरूरी है कि राज्यों के परस्पर सम्बंध नियमित किये जाँय। अंतर्राष्ट्रीय विधान नियमों का वह समुच्चय है जिनके द्वारा राज्यों और उनकी प्रजाओं के बीच परस्पर सम्बंध निर्धारित होते हैं। समाज में रहने वाले नर-नारियों पर ये इसलिये लागू किये जाते हैं कि एक बार जहाँ हमारे राज्य ने आन्तरिक रूप के आगे बढ़ कर बाहरी रूप ग्रहण किया, बिना उन नियमों के जो स्थिति पैदा होगी उसको केवल अराजकता ही कहा जा सकता है। यदि ये राज़्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत न रहे तो वे जैसा चाहेंगे, वैसा करेंगे। और हॉबेज ऐसे बड़े बड़े विचारक हो गये हैं जिन्होंने बिना संकोच के इसी निष्कर्ष को स्वीकार किया है। अपने दृष्टिकोण से उन्होंने तर्क किया है कि चूँकि आदमियों की कोई संस्था राज़्य को आज्ञा देने का अधिकार नहीं रखती, उसी प्रकार राष्ट्रीय विधान की तरह अन्तर्राष्ट्रीय विधान

वैध या जायज नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि यदि राज्य के वैध निर्देश को महान मानना है तो तार्किक रूप से, और कोई निर्देश उससे भी बड़ा नहीं हो सकता। इसका मतलब यह हुआ कि हरेक राज्य के लिये अंतर्राष्ट्रीय विधान उसी सीमा तक वैध हैं जिस सीमा तक कि वह उनको मानने के लिये तय्यार है। अतएव, अंतर्राष्ट्रीय विधान उस राज्य का तभी विधान होता है जब वह उसे ऐसा स्वीकार कर लेता है। स्वतः वह किसी को बाध्य करने की शक्ति नहीं रखता। यह अधिकार उसे तब प्राप्त होता है जब नियम प्रति नियम, हरेक राज्य वैध निर्देश के रूप में स्वीकार कर लेता है।

ऐसे कठोर निष्कर्ष को स्वीकार करने के पहले हमको उसकी नींव की ही परीक्षा कर लेनी चाहिए। आधार की ऐसी परीक्षा ज़रूरी है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर कुछ खास बातें पैदा होती हैं: १) कोई नया राज्य, अपनी रचना के उपरान्त, अंतर्राष्ट्रीय विधान के निश्चित नियमों में कुछ को ग्रहण करने तथा कुछ को छोड़ देने की क्षमता नहीं रखता। वह उनके बंधन को अपने ऊपर ऐसे स्वीकार कर लेता है मानों उसी ने उनकी रचना की हो। अंतर्राष्ट्रीय रीति-रस्म, संधियाँ, पञ्चायती समझौते, इत्यादि ने कुछ ऐसे सुनिश्चित सिद्धान्तों की रचना कर दी है कि राज्यों का साधारण परस्पर सम्बंध उसी प्रकार सीमित तथा नियमित हो गया है जिस प्रकार इङ्गलैण्ड के क़ानून से उसके नागरिकों के कार्यों को सीमित कर रखा है। यूरोप में मध्ययुग के ईसाई साम्राज्यवाद के टूटने पर, ऐतिहासिक परिस्थिति में राज्य के प्रभुत्व का उदय और विकास हुआ है। आमतौर पर, यूरोप के 'सुधार युग' के पहले, राज्य के संकल्प में प्रभुत्व का अभाव था। उस समय राज्य का संकल्प अथवा इच्छा स्वभावतः ईश्वर तथा प्रकृति के नियमों के आधीन तथा उनसे सीमित समझी जाती थी। इन सिद्धान्तों की उपेक्षा करके यदि राज्य कोई नियम बनाता था तो वह स्वतः प्रभावहीन समझा जाता था। आज हम

एक ऐसे विश्व-राष्ट्र मण्डल की पुनः रचना कर रहे हैं, जिसका मध्य-युग के विचारक सपना देखा करते थे। अब हम देखते हैं कि आज जो वैज्ञानिक तथा आर्थिक परिवर्त्तन हो गये हैं उसने यह असम्भव कर दिया है कि भिन्न राज्यों को, विश्व से संम्बध रखने वाले मामलों में स्वतंत्र निर्णय करने दिया जाय। निर्णयात्मक विषयों में, यदि इच्छानुसार निश्चय करने में कोई बंधन न हो, तो महायुद्ध हो सकता है। इसी कारण से, राज्य के संकल्प ने अपने राज्य के भीतर की सभी संस्थाओं की इच्छाओं के ऊपर प्राथमिकता प्राप्त कर ली। इसी लिये राज्यों के समाज में, किसी एक राज्य की इच्छा के ऊपर सार्वजनिक संकल्प को प्रधानता (प्राथमिकता) देना एक राजनैतिक आवश्यकता हो गई है। मतलब यह कि विश्व से सम्बंध रखने वाले आम मसलों में, ठीक जिस प्रकार व्यक्तिगत संकल्प के ऊपर राज्य द्वारा निर्धारित वैध निर्देश होता है, उसी प्रकार राज्य की इच्छा तथा संकल्प के ऊपर अंतर्राष्ट्रीय संकल्प होना चाहिये।

यही बात, दूसरे ढंग से, सबसे अच्छी तरह से कही जा सकती है। ईस्वी सन् १६०० और १७०० के बीच में, वर्त्तमान राज्य पूरे प्रभुत्व के साथ इसलिये प्रकट हुए कि नागरिकों के जीवन में शान्ति तथा सुरक्षा की गारण्टी देने वाली और कोई दूसरी विधि न थी। उस समय के विचारकों ने उसकी कार्यवाही में दार्शनिकता की खोज में यह विशिष्टता पाया कि उसने अपनी संकल्प-शक्ति को सभी बाहरी नियंत्रणों से मुक्त कर लिया था। इसलिये स्वभावतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सामाजिक संगठन की वह उत्कृष्ट या चरम इकाई थी। किन्तु, परिस्थितियाँ फिर बदल गयी हैं। विशेषकर गत अर्द्ध-शताब्दि में विश्व में इतनी अन्तनिर्भरता आ गई है कि किसी राज्य की उपयुक्त इच्छा दूसरे राज्यों की शान्ति के लिये घातक हो सकती है। मान लीजिये कि हम इङ्गलैण्ड को अपनी सीमा, सरहद, शस्त्रीकरण चुंगी तथा मजदूरी की मर्यादा निश्चित करने के लिये स्वतंत्र छोड़

दें, अन्य राज्यों के साथ अपने झगड़े का फैसला अपने मन से करने दें तो इन सब बातों का फल होगा अतर्राष्ट्रीय विपदा। राज्यों की अंतनिर्भरता के कारण यह आवश्यक है कि एक ऐसे विश्व-समुदाय तथा राज्यों के समाज का निर्माण हो जिसके अपने वैध निर्देश हों और इन निर्देशों के सामने अन्य किसी नियम का कोई स्थान न हो। संक्षेप में, आज हमारी जो परिस्थिति है, उसमें सबसे सम्बंध रखने वाले मामलों में, विश्व पर के लागू होने योग्य स्वयंसिद्ध नियम बनाना उतना ही स्पष्टतः आवश्यक है जितना अपने ही राज्य के भीतर राज्य का वैधानिक अधिपति होना। एक शब्द में, वैधतः म्युनिसिपल क़ानून अंतर्राष्ट्रीय क़ानून के आधीन है।

इसलिये, यह संभव है कि इस अनुमान पर क़ानून का सिद्धान्त बनाया जाय कि उनका वास्तविक आधार राज्यों के समाज की इच्छा हो, और नवीन सभ्यता में, सब इच्छाओं या संकल्प के ऊपर वही इच्छा समझी जाय। ऐसे अनुमान से, राज्यों के समाज में, उनके साथ किसी एक राज्य का सम्बंध आधीनता का होगा। वह सम्बंध कुछ ऐसा ही होगा जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में न्ययार्क का स्थान है। नियम बनाने के सम्बंध में कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें न्यूयार्क अपनी इच्छानुसार निश्चय कर सकता है, और बहुत से विषय ऐसे हैं जिनमें वह संयुक्त राज्य अमेरिका के निश्चय को मानने के लिये बाध्य है। इस दृष्टि से राज्यों में प्रभुता नहीं रह जाती। विश्व की जिन परिस्थितियों में वह फँसा हुआ है, उसके मंतव्य को उसे स्वीकार करना होगा। जिस प्रकार अपने राज्य में किसी नागरिक की बंधन-रहित इच्छायें रखने के वैध अधिकार की मांग को स्वीकार करना असम्भव है, उसी प्रकार राज्य की यह मांग भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि वह बिना किसी बंधन के जैसा चाहे वैसा निर्णय करे। आम ज़रूरियातों के कारण एक-दूसरे के आधीन होना पड़ता है और जहाँ एक-दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है, वहां ऐतिहासिक

तथा पारिभाषिक दृष्टि से भी, सर्व प्रभु-राज्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती।

यदि राज्य अंतर्राष्ट्रीय विधान को तोड़ते हैं या राज्यों के समाज ने, विशेषकर व्यवस्थापक क्षेत्र में, कोई संतोषजनक संघ या संस्था नहीं बना लिया है तो इन दो निस्सन्देह कारणों से हमारे दृष्टिकोण को कोई आघात नहीं पहुँचता। किसी राज्य द्वारा अंतर्राष्ट्रीय विधान के किसी नियम का उल्लंघन उतने ही महत्व की या बिना महत्व की बात हो सकती है जैसे किसी एक नागरिक द्वारा म्युनिसिपल विधान के किसी नियम का उल्लंघन। विधान तब तक विधान रहेगा जब तक वह साधारणतः तथा स्वभावतः लागू किये जाने की क्षमता रखता है। हम यह मानते हैं कि राज्यों के समाज की संस्थायें अथवा संगठन अपने उद्देश्य की पूर्ति के योग्य नहीं हैं। किन्तु, इसके दो उचित कारण हैं। पहले तो अंतर्राष्ट्रीय अन्तर-निर्भरता की बात काफ़ी हाल में ही स्वीकार की गयी है; नियमित रूप में इसकी योजना सन् १९१९ की वार्साई की संधि के पहले नहीं बनी थी। दूसरे, इस अन्तनिर्भरता को कार्यरुप में परिणत करने के लिये इनको संस्थाओं का रुप देने का जो भी प्रयास होता है, उसके विरोध में, अपने साम्राज्य के भग्नावशेष को अपने हाथ में बचाकर रखने का भगीरथ प्रयत्न करने वाले प्रभु राज्यों की प्रेत मण्डली खड़ी हो जाती है। उदाहरणार्थ, पुराने राष्ट्र परिषद् का इतिहास केवल अन्तर्राष्ट्रीय अन्त निर्भरता के नये सिद्धान्त और उसके परिणाम तथा प्रभुत्व के प्राचीन सिद्धान्त के बीच संघर्ष की कहानी मात्र है। प्रभुत्व के प्राचीन सिद्धान्त को प्रसन्न रखने के लिये यह नियम बनाया गया कि सभी महत्व पूर्ण सर्व-सम्मत होने चाहिये। इसका फल यह हुआ कि राष्ट्रपरिषद् की उपादेयता ही नष्ट हो गयी। अन्तनिर्भरता के सिद्धान्त को स्वीकार कराने की आवश्यकता के कारण राष्ट्रपरिषद् के 'आज्ञ

नल क्लांज"[1] "जेनरल ऐक्ट आफ़ आर्बिट्रेशन," [2]"लोकार्नो पैक्ट"[3] ऐसे नियम संधियों हुई जिनके द्वारा राज्य के प्रभुत्व के सिद्धान्त पर निश्चित तथा परिणामशील आक्रमण होता है। इन नियमों तथा संधियों को मानने वाले राज्य वास्तव में यह स्वीकार करते हैं कि वे अपनी इच्छानुसार, अपने मन के अनुसार कार्य नहीं कर सकते। इसी प्रकार राष्ट्र परिषद् द्वारा प्रमाण-पत्र के अनुसार[4] शासन करने या कुछ सदस्य राज्यों में राष्ट्रीय अल्पमत वालों के अधिकारों की राष्ट्रपरिषद् द्वारा गारंटी देने की नीति से यह पकट होता है कि यह स्वीकार कर लिया गया है कि राज्यों की पुरानी स्वतंत्रता के दिन अब निश्चय ही चले गये। आधुनिक राज्यो में पारस्परिक समान सहयोग के लिये यह आवश्यक है कि उनको एक सामान्य अधिकारी के आधीन किया जाय। इस प्रकार की अधीनता का मंतव्य यही होगा कि उसे दूर करने तथा मिटाने की चेष्टा करने वाली सभी इच्छाओं के उपर, उपर्लिखित सामान्य अधिकारी के वैध निर्देशों की ही प्रधानता, प्राथमिकता हो।

इस परिस्थिति के सामने, कुछ प्रसिद्ध विचारकों ने, प्राचीन दृष्टिकोण से इसका दो प्रकार से सम्बंध करने का प्रयास किया है। एक तरफ वे यह कहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय विधान वास्तव में राष्ट्रीय विधान है क्यों कि उसे कार्य रुप में परिणित करने के लिये भिन्न राज्यों की स्वीकृति आवश्यक है। दूसरी तरफ वे यह कहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय विधान क्रियात्मक दृष्टि से विधान होते हुए भी एक स्वय सम्पूर्ण प्रणाली मात्र है। पृथक् राज्यों के संकल्प से यह पूरी तरह से भिन्न है और उनसे इसका कोई सम्बंध नहीं है। किन्तु, यह दोनों ही विचार सन्तोषजनक नहीं हैं। पहले का दो जवाब दिया जा सकता है। प्रमाण यह है कि राज्य अंतर्राष्ट्रीय विधान के नियमों को इसलिये नहीं अपनाते

1. Optional clause. 2. General Act of Arbitration. 3. Locarno Pact. 4. Mandates.

कि वे उनको पसन्द करते हैं बल्कि उनके सामने दूसरा चारा ही नहीं रहता। स्वीकृति देने के सिद्धान्त को कायम रखने में लाभ ही है यद्यपि वास्तव में यह बात तमाशा ही है। फिर यह भी तय है कि कोई अंतर्राष्ट्रीय कानून तभी चरितार्थ होगा जब कि जिन पर यह लागू किये जाने वाला है, उनकी स्वीकृति हो—पर, यही बात राज्य के सभी कानूनों के लिये लागू होती है। न्याय शास्त्र की दृष्टि से, यदि अंतर्राष्ट्रीय विधान की वैधता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कितनी सफलता के साथ लागू किया जा सकता है, उसे वैधता के ऐसे नियमों में बाँध देना है जिसकी राष्ट्रीय विधान के सम्बध में भी नैयायिक कल्पना नहीं करता। उसी के स्वयं-सिद्ध नियमों के अनुसार वैधता का आँकने के लिये केवल इतना ही जानना जरुरी है कि नियम कों बनाने वाले को ऐसा करने का अधिकार था या नहीं। बस, केवल इस अधिकार के अतिरिक्त यदि अन्य विचारों की भित्ति पर कोई अनुमान लगये जाते हैं तो वह उन्हें अस्वीकार करने के लिये बाध्य होता है। उसे केवल इतना ही मालूम करना है कि नियम बनाने वाले को नियम बनाने का अधिकार था या नहीं। अंतर्राष्ट्रीय विधान को राष्ट्रीय विधान से पृथक् एक स्वतंत्र प्रणाली मान लेने से भी संतोष-प्रद फल न होगा। क्यों कि, अंतर्राष्ट्रीय विधान का पूरा उद्देश्य ही यह है कि राज्य के भीतर रहने वाले नागरिकों के व्यवहारों की व्याख्या करके, उनका नियमन करे। बिना राज्य की इच्छा यां संकल्प को अपने आधीन किये वह इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः ऐसी दशा में राज्य के संकल्प के ऊपर अतर्राष्ट्रीय संकल्प का स्वतः प्रधान होना अनिवार्य है। इसी से हमको यह मानना पड़ता है कि म्युनिसिपिल विधान उन्हीं स्वयं सिद्ध सिद्धान्त पर बना है जिन पर अंतर्राष्ट्रीय विधान।

एक अन्तिम तर्क पर भी विचार कर लिया जाय। यह कहा जाता है कि राज्य को एक वैध व्यवस्था मानना इस लिये आसान है कि राज्य की

भावना होते ही कुछ ऐसे व्यक्तियों का समूह या उनकी संस्था सामने आ जाती है जो अपने पद के कारण, नागरिकों पर अपने वैध निर्देशों को लागू करने का अधिकार रखते हैं। राज्यों के समाज में इस प्रकार के अधिकार की स्पष्टता पाई नहीं जाती। यदि उसका कोई नियम भंग हो गया तो ऐसा कोई नहीं है जिसकी, नियम भंग करने पर, व्यवस्था देने की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी हो, इस आलोचना को घातक मान लेने के पहले यह जरूरी है कि हम इससे पैदा होने वाली बातों पर विचार कर लें। इसमें यह मान लिया जाता है कि राज्य के कानून उसकी ऐसी संस्था द्वारा बनाये जाते हैं जिसको आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्था देने (दण्ड देने) का अधिकार होता है। पर यह तो वास्तव में हाबेज़ और आस्टिन ऐसों से प्राप्त प्रभुत्व के प्राचीन सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना है और हमने ऊपर यह देख लिया है कि आधुनिक समाज की विषम स्थिति में ऐसा सिद्धान्त उपयुक्त नहीं बैठता। आज हमको यह पता लगाने की कम चिन्ता है कि किस प्रधान शक्ति के संकल्पों के अनुसार नियम बनते हैं। हमको यह जानने की अधिक चिन्ता है कि ऐसा कौन सा उपयुक्त साधन तथा सूत्र है जिसके द्वारा समाज के जीवन के भिन्न विभागों के लिये आवश्यक नियम बनते है। हमारी वर्तमान रुचि राज्यों के कार्यों के विभाजन की ओर है, केन्द्रीकरण में नहीं। इतना ही नहीं। हम यह भी पेश कर सकते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय विधान के बहुत से नियम, एक राज्य के मामूली न्यायालय में साधारणतः तथा स्वाभाविक रूप से लागू किये जाते हैं। सन १९१६ में "जमोरा" के मुकदमे में लार्ड पार्कर ने जो फैसला दिया था वह साबित करता है कि इस दिशा में वे किस हद तक जा सकते हैं। यह भी हम पेश कर सकते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय नियम केवल स्थायी अंतर्राष्ट्रीय अदालत में ही आजकल नहीं लागू होते बल्कि ऐसा ही, या इसी प्रकार का काम करने वाली अन्य सभी संस्थाओं की कार्य की रूप रेखा पर इन फैसलों का प्रभाव बढ़ता ही जाता है।

साथही, यह भी प्रकट है कि राष्ट्र परिषद्,[१] चाहे उसका संगठन कितनाही अधूरा हो, "अंतर्राष्ट्रीय स्वीकृति" के विचार की संस्था के रूप में अभिव्यक्ति है। वह जितनी अधिक अवधि के लिये काम करेगी, उतना ही इस विचार को दृढ़ रूप देती जायगी। यदि कोई समझौता प्रारम्भ में इस दृष्टि से किया गया था कि लड़ाई छिड़ना रोक दे, उसमें विलम्ब करा दे, तथा इस बीच में सम्भव है कि कुछ ऐसा सोचने का मौका मिल जाय जिससे सफलता पूर्वक मध्यस्थता की जा सके, वही विचार उत्तरोत्तर ऐसी भावना का रूप ग्रहण कर लेता है जिस में यह परिभाषा बन जाती है कि किसी पक्ष के किस प्रकार के कार्य को आक्रमणात्मक अथवा पराधिकार प्रवेश समझा जाय और जो राज्य इसकी जिम्मेदार होगी उसे राष्ट्र परिषद् के अन्य सदस्यों की शत्रुता मोल लेनी पड़ेगी। वास्तव में किसी रूप में सामूहिक निर्णय के भाव पैदा हो गये हैं। तर्क का या विवाद का विषय केवल यही रह गया है कि व्यवहारिक रूप में सामूहिक निर्णय उपयोग कैसे हो। हर दृष्टि से परिषद् के ऐसे "समझौते" या "निश्चयों" में सयुक्त जिम्मेदारी की धारणा मिलती है—और सदैव यह धारणा केवल मूल रूप में या प्रारम्भिक अवस्था की नहीं होती। पर भी साफ है कि राष्ट्र परिषद् की कौंसिल यदि किसी मंत्रिमण्डल की तरह नहीं तो ऐसी संस्था के रूप में अवश्य काम करती है जिसकी नियम बनाने वाली अन्य सस्थाओं से महत्वपूर्ण समानता है? परिषद् के निर्णयों से जनमत प्रत्यक्षतः काफी प्रभावित होता है। अंतर्राष्ट्रीय अदालत के कार्यों का भी ऐसा ही प्रभाव होता है। प्रथम महायुद्ध से प्राप्त वसीयत (अभिशापों) के कारण परिषद् के काम में बड़ी बाधायें हैं, फिर भी कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि व्यक्तिगत राज्यों की अति की

---

१. जिस समय यह ग्रंथ लिखा गया था, राष्ट्र परिषद् (लीग आव नेशस) थी, अब मित्र राष्ट्र परिषद् (यूनाइटेड नेशस) है।

रोक थाम के लिए दुनियाँ के लोगों की आँखें उसी की ओर देख रह हैं। उसके वैज्ञानिक तथा सामाजिक सेवा के कार्य के सम्बंध में न्यायपूवक यह कहा जा सकता है कि आज अगर वे काम न हुए होते तो संसार कहीं अधिक लाचार और गन्दा स्थान होता। यदि वे कार्य बन्द हो जाँय तो उनको खोजकर लाना ही पड़ेगा। कायरता तथा हिच-किचाहट के कारण परिषद् की बड़ी हानि हुई है। रूस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का उसका सदस्य न होना भी बड़ा हानिकारक हुआ है।[१] सबसे ऊपर, इसने अपनी रचना में ही, कार्य प्रणाली के उन दोषों के कारण हानि उठाया है जो राज्यों की मर्यादा बनाये रखने के लिये रहने दिये गये थे। किन्तु इन कमजोरियों और अड़चनों के होते हुए भी, इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता और महत्ता के विषय में सन्देह करना कठिन है। इसके इतिहास के प्रथम दस वर्ष साफ तौर पर यह दिखलाते हैं कि राजनैतिक संस्थाओं के इतिहास में यह संस्था एक निर्णयात्यक पग है।

(२)

या तो राष्ट्र परिषद् अपना अधिक विकास करे या वह नष्ट ही हो जायगी। यह तभी विकास करेगी जब व्यक्तिगत राज्यों के अधि-कारों पर लगातार रोकथाम करता रहेगी। इसके सफल विकास के लिये यह आवश्यक है, संलग्न है कि जिन विषयों पर अपनी प्रेरणा के अनुसार नियम बनाने का अधिकार रखते हैं, उन विषयों के अधिक-तम व्यापक क्षेत्रों में नियत्रण रखने की अपनी शक्ति को वह उत्तरो-तर अभिव्यक्त करता रहे। अंतर्राष्ट्रीय समाज में, सबसे सम्बन्ध रखने वाले मामलों में राज्यों का व्यवहार करने के तरीकों को बतलाने का अधिकार परिषद् का ही होगा। ऐसे कम से कम कुछ मामले तो साफ़ जाहिर है। युद्ध की घोषणा करने का अधिकार, सरहदों का

---

[१]. यह पुराने मित्र राष्ट्र परिषद् के लिये है

स्पष्टीकरण, अस्त्र शस्त्र रखने की मर्यादा, चुँगी की दीवाल, एक देश से दूसरे देश में जाकर बसना, पिछड़ी हुई जातियों का संरक्षण ये सब ऐसे मामले हैं जिन पर अधिक समय के लिये व्यक्तिगत राज्यों का पूरा अधिकार नहीं रह सकता। और एक तरह से, यह भी कम महत्व की बात नहीं है कि परिषद् के सदस्य राज्यों को अपनी संधियों को चरितार्थ करने (काम में लाने) तथा उपयोगी बनाने के लिये, परिषद् की राजधानी जेनेवा में ही रजिस्टर कराना पड़ता है—दर्ज़ कराना होता है। परिषद् की छाया में ही उन पर हस्ताक्षर होते हैं। इन संधियों के प्रति परिषद की स्वीकृत होनी चाहिये। हम न्याय-पूर्वक यह कह सकते हैं कि अब ऐसा युग आ रहा है जब कि ऐसी संधियों के तत्व को परिषद् द्वारा स्वीकार कराना ही होगा यदि उनको अतर्राष्ट्रीय विधान की मर्यादा के समान, सबके लिये माननीय बनाना है।

किन्तु, यह कहना कोई हवाई बात नहीं है कि ऐसी बातें सभ्यता के उस युग का प्रारम्भ काल हैं, अन्त नहीं, जिसे हम काफी वेदना उठाने के बाद, अवश्य ही देखने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे। विज्ञान तथा उद्योग धंधों की उन्नति में तीन बातें पैदा हुई हैं —(१) समाज में चीजों को खरीदने की शक्ति समान रूप से विभाजित न होने के कारण, उत्पादन-शक्ति उपयोग की शक्ति के बहुत आगे बढ़ गई है। इसका फल यह हुआ है कि आधुनिक उत्पादन-कला से उत्पत्ति करने वाले राज्य निर्यात के लिये विदेशी बाज़ार प्राप्त करने की भगीरथ प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुये हैं और साथ ही दूसरे, इनको अनायास ही अपने देश के जीवन-निर्वाह की मर्यादा को कम उन्नत देशों की प्रतिस्पर्द्धा से बचाना पड़ता है। जल्दी या देर में, ऐसी परिस्थिति का यह अनिवार्य परिणाम होने ही वाला है कि विश्व के कच्चे ही माल पर, बिक्री के तरीकों पर तथा मजदूरों की जीवन-मर्यादा पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण हो जाय। महायुद्ध रोकने के लिए बनी हुई राष्ट्र परिषद्

ऐसी संस्था को, इसी मंतव्य के कारण महायुद्ध के मूल कारणों को भी सुलझाना होगा—और यह मूल कारण वास्तव में आर्थिक है। तभी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगी। उसे इसके भी आगे जाना होगा। आधुनिक संसार में व्यक्तिगत राज्य की अपनी मनमानी अर्थनीति (मुद्रा नीति) चलाने के कारण जो गड़बड़ी पैदा होती है, उतनी और किसी एक कारण से नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन ने यदि विदेशों को मुद्रा उधार देने की नीति में सुदूर-व्यापी प्रतिबन्ध लगा दिये तो संसार भर में चीजों के मूल्य में घातक कमी हो जायगी—मूल्य बुरी तरह से गिर जायगा। पेरिस में स्वर्ण की असावधानी से एकत्रित राशि के कारण जापान तथा दक्षिण अमेरिका में घोर बेकारी फैल सकती है। यह समझ लेना साधारण बुद्धि की बात है कि बासले में स्थापित "बैंक आफ़ इंटर नैशनल सेटलमेण्ट" एक ऐसी केन्द्रीय मुद्रानीति की योजना का श्रीगणेश है जिसके आधीन सब राज्य उसी प्रकार से होंगे जैसे इङ्गलैण्ड से ज्वायेण्ट स्टॉक बेंक, "बैंक आफ़ इङ्गलैण्ड" के आधीन है। अन्यथा, आधुनिक आर्थिक दशा में, एक राज्य की दूसरे राज्य के प्रति जो आप से आप निर्भरता पैदा होगई है, उसमें किसी एक राज्य की भूल तथा मूर्खता के कारण ऐसी व्यवस्था पैदा हो जायगी जो देखने में शायद उतनी न मालूम पड़े, पर उसका परिणाम सन् १९१४ के महायुद्ध से उत्पन्न दशा के समान ही कठोर होगा।

परिषद् के विकास की एक दूसरी क्षितिज से भी कल्पना की जा सकती है। अभी तक ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय विधान ने, निजी तौर पर उसके संरक्षण का पात्र होने का दावा करने वाले व्यक्तिगत स्वत्वों से बड़ी, बुद्धिमानी के साथ बहुत ही कम सरोकार रखा है। यदि पराये राज्य विदेशी होने के नाते उन्हें कुछ पीड़ा पहुँची है तो उसकी दवा के लिये उनको अपने राज्य की ओर देखना चाहिए। यदि अपने ही राज्य में उसके प्रति अन्याय

हुआ है तो अन्तर्राष्ट्रीय विधान उसे "घरेलू मामला" कहकर अपने विचारणीय विषयों से परे मानता है। यह बतलाया जा चुका है कि राज्य स्वयं प्रभु संस्था है। इस लिये इस दशा में, उसके निश्चयों के औचित्य पर प्रश्न करने का किसी को अधिकार नहीं है।

अस्तु, इन विषयों में यह असम्भव नहीं है कि हम एक नये युग के द्वार पर खड़े हैं। ऐसा कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं है कि यदि समुचित विधि बन जाय तो किसी पराये देश के अन्यायपूर्ण कार्य से पीड़ित या विदेशी स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के सामने न्याय माँगने का अधिकार न रखता हो। हाँ, यह अवश्य है कि उसे अपना मुक़दमा ही नहीं साबित करना है बल्कि यह भी सबूत देना होगा कि उसे पीड़ा पहुँचाने वाले राज्य में प्रचलित सभी व्यवस्था के अनुसार वह अपने प्रति अन्याय का प्रतीकार न प्राप्त कर सका। फिर कोई कारण नहीं है कि यदि किसी नागरिक को, किसी राज्य में, वह अधिकार भोगने को नहीं मिलता जिसके विषय में वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान से प्रण बद्ध हो चुका है, तो वह दोषी राज्य को किसी अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के सामने अपने कार्य की सफाई देने के लिये खींच न ला सके। उदाहरण के लिये, सन् १९१९ की संधि के अनुसार यहूदियों को यह संरक्षण प्राप्त हुआ था कि किसी राज्य में उनके प्रति भेद भाव करने वाला क़ानून नहीं बनेगा। ऐसा कौन सा सिद्धान्त है कि यदि रुमानिया या हंगरी में कोई यहूदी यह साबित कर सके कि किसी नियम द्वारा उसकी विशेष हानि हो रही है और उसे शिक्षा का अवसर नहीं मिलता तो वह अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों का संरक्षण नहीं प्राप्त कर सकता। जितना ही हम इस विचार को उन्नत करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान व्यक्ति की रक्षा के लिये है, उतना ही वह विधान व्यक्तियों के लिए अधिक माननीय शक्ति प्राप्त करेगा। हमारे सामने जो समस्यायें हैं उनको देखते हुये अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड विधान की नितान्त आवश्यकता है। जितना ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बढ़ता जायगा,

इसकी जरूरत बढ़ती जायगी। ठीक जैसे अपनी अदालतों में राज्य अपने नियमों के लिये उत्तरदायी है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, जितना ही अधिक सीमा में उसकी जिम्मेदारी बढ़ेगी, उतना ही उसके कार्यों के प्रति सम्मान बढ़ेगा।

इस समीक्षा से उत्पन्न होने वाली बातों पर भी विचार करना उचित होगा। सौ वर्ष पूर्व ऑस्टिन ऐसे पण्डितों को राज्य की सीमा तक ही विधान की व्याख्या करना जितना स्वभाविक था, उतना ही असम्भव था, मध्य युग के विचारकों का सार्वभौमिक सत्ता के अतिरिक्त और किसी प्रकार के राज्य की कल्पना करना। ऑस्टिन की दुनियाँ में, राज्य मानवी संस्थाओं के विकास की पराकाष्ठा थी। प्रतिद्वन्दता (एक राज्य की दूसरे के साथ) ही उसका नियम था। १८वी शताब्दी में यह उदार भावना फैली हुई थी कि "संसार में जो कुछ होता है भले के लिये ही होता है।" उसी भावना से ऑस्टिन-मत की प्रतिद्वन्दिता के पीछे यह भाव था कि यदि हम प्रकृति की निस्सीम बुद्धिमता पर केवल भरोसा रखें तो वह स्वयं अन्ततः हरेक चीज को सही रास्ते पर ले आती हैं। प्रसिद्ध विद्वान ऐड़म स्मिथ ने भी जिस अदृश्य शक्ति का उल्लेख किया है, वह भी "जो कुछ होता है, भले के लिये होता है" की जो भावना की प्रसादि है। यही प्रवृत्ति बेंथम के उस मौलिकवाद के पीछे है, जिसके अनुसार सभी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का एक मात्र उपाय "ठीके की—साझेदारी की स्वतत्रता" माना गया है। जनता को पूरा अधिकार है कि जब, जैसा, जिस प्रकार उचित समझे अपने शासन का प्रबंध करे। यही भावना हेगल ऐसे पण्डित को भी यह कहने के लिये प्रेरित कर सकी कि मानव के ऐतिहासिक विकास से हमको यही नसीहत मिलती है कि जितनी स्वतंत्रता प्राप्त हो सकी है, उससे भी अधिक मिलनी चाहिये।

हमारी दुनियाँ आज दूसरे तरह की है। आज हम राष्ट्रीयता के पार्थक्य या भेद के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय निर्भरता से प्रभावित

होते हैं। प्रतिद्वन्दिता का गुण नहीं, सहयोग की आवश्यकता हमें आकर्षित करती है। अरिस्तू का विचार था कि पड़ोसी राज्यों के साथ शान्ति पूर्ण तथा मेल जोल का सम्बंध रखकर कोई भी राज्य अपनी अवश्यकताओं को स्वयं पूरा करता हुआ जीवन व्यतीत कर सकता है। आज हमने यह सीखा है राज्य का स्वयं-सम्पूर्ण जीवन हो नहीं सकता। वह केवल ऐसे महान समाज का अंग है जिसमें जीवन के हर पहलू की आवश्यकताये एक दूसरे से बँधी हुई हैं। अब हम यह देख रहे हैं कि जब तक मानव में आर्थिक बँटवारे की समान शक्ति न हो "साझेदारी की स्वतंत्रता" का उसके लिये कोई अर्थ नहीं होता। पुराने जमाने में जिस प्रकार अपने ही राज्य में कुछ व्यक्तियों का विरोधी रहना भयानक समझा जाता था उसी प्रकार आज "सर्व-प्रभु" राज्य की अलग सत्ता भयंकर समझी जाती है। हमको समाज के कार्यों के सम्बंध में ऐसा व्यवहारिक सिद्धान्त बना लेना चाहिये जिसमें शक्ति का संगठन या विभाजन इस रूप में हो कि जिन साधनों के द्वारा हमें बाध्य होकर काम करना या लेना पड़ता है, वे उसी सिद्धान्त के लक्ष्य की पूर्ति करने वाले हों। अब यह प्रकट हो गया हैं कि समाज के किसी एक अंग के हाथ में, बिना किसी बंधन के अपनी अक्ल से काम करने के लिये ऐसी शक्ति दे देना अच्छे जीवन के साथ मेल नहीं खाता। आज के तीन सौ वर्ष पूर्व जिस प्रकार रोमन कैथोलिक समुदाय में गिर्जाघर का प्रभुत्व था और पुरानी चाल की चीज बन कर समाप्त हो गया, उसी प्रकार आज के संसार में राज्य का प्रभुत्व प्राचीन परिपाटी की समाप्त वस्तु है।

हम राज्यों के परस्पर सम्बन्ध को असंगठित रूप में नहीं रहने दे सकते। और ज्यों ही हम इनके संगठन की कल्पना करते हैं, यह स्पष्ट है कि राज्य के प्रभुत्व का अर्थ अराजकता होगी। वह अपने घरेलू मामलों की देख रेख करें, पर दूसरे राज्यों से सम्बंध रखने वाले विषयों में मनमानी करने का अधिकार उसे नहीं दिया जा सकता।

आज की हमारी परिस्थिति में हम राजनीतिक समस्याओं को ऐसी स्वाभाविक दृष्टि से देखेंगे जिसमें राज्य महान समाज का एक प्रान्त मात्रा है। अतः हमें इस पर जोर देना पड़ेगा कि उसके (राज्य के) नियम, उसकी सीमा के भी आगे, सुदूर-व्यापी हितों के आगे नियन्त्रित हैं और उन्हें ध्यान में रखकर ही बनाये जा सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि ऐसे महान समाज को संगठित करना तथा उसके व्यापक क्षेत्र को नियंत्रण में रखने वाली उपयुक्त संस्था की रचना बहुत ही बड़ा और कठिन कार्य है। किन्तु, इस प्रयास की सफलता के लिये केवल यही आवश्यक है कि हम इसी दृष्टि से, इस सम्बंध में बराबर विचार करते रहें। हमारे चित्त में यह बात जितनी ही बैठती जायगी कि राज्य का प्रभुत्व एक बीते हुए ऐतिहासिक युग की बात थी, उतना ही हम अपने नये वातावरण के उपयुक्त विधान शास्त्र की रचना की बात सोचेंगे। प्राचीन जगत का वर्गीकारण या श्रेणी विभाजन को लेकर नया संसार जीने की आशा नहीं कर सकता।

दूसरी तरफ़, यह भी संभव है कि अंतर्राष्ट्रीय संगठन की हमारी चेष्टा भङ्ग हो जाय। जिन संस्थाओं ने अधिकार का अपहरण कर लिया है, वे आसानी से अपना अधिकार नहीं छोड़ेंगी। जिनके दिमाग़ में, इस सम्बंध में पैदा होने वाले झगड़ों की आशंकायें भरी हुई हैं—जैसे आर्थिक बैर, विवाद, जातीय- विद्वेष, राष्ट्रीय तथा धार्मिक द्वेषों और झगड़ों की भी सम्भावनायें आतंकित कर रही हैं, वे यदि यह सोचें कि विश्व में शान्ति की सम्भावना अत्यंत ही कम है, तो उनका ऐसा सोचना क्षम्य है। निरस्त्रीकरण के सिद्धान्त की हम केवल जबानी हिमायत करते हैं, हम सचमुच में अपने को निरस्त्र नहीं करते। जिन राज्यों पर हमारा अधिकार है, उनके विषय में "धरोहर" मात्र के सिद्धान्त की हम दुहाई देते हैं पर हम वास्तव में पुराने औपनिवेशिक शासन की तरह उन पर अधिकार जमाये हुऐ हैं। हमारे इस युग की सबसे घातक बात है आर्थिक

राष्ट्रीयता के पुराने सिद्धान्त का पुर्नजन्म। रुस का उदाहरण लीजिये, जागृत पूर्वी देशों को देखिये, उन अल्पमत वालों की तीव्र राष्ट्रीयता, जो किसी दूसरे राज्य में मिला दिये जाने के कारण अपने को अपमानित समझते हैं, अमेरिका की सामूहिक-उत्पादन की नवीन प्रणाली से उत्पन्न घोर साम्राज्यवादिता—इन सब की ओर दृष्टि डालने से हम यह सोच नहीं पाते-या ऐसा सोचने में रुकावट होती है कि विश्व का अकाट्य नियम है "प्रगति" करते रहना। स्वतंत्रता तथा सुख है कहा जब तक हम उनको न बतावें। स्वतंत्रता तथा सुख होगा कैसे जब तक हम शान्ति से रहना न सीखें। हमें यह सोचना सीखना होगा कि इस दिशा में जो कुछ कार्य होगा, वह रचनात्मक दुष्कर प्रबल है और उसमें उतना ही महान त्याग करना होगा तथा खतरे उठाने होंगे, जितना किसी महायुद्ध में। इसके प्रति (विश्व समाज के लिये) अपना अधिकार प्रमाणित करने के लिये हमें उसका मूल्य चुकाने के लिये तय्यार रहना होगा।

ऐसा आश्वासन किसी को नहीं दिया जा सकता कि हम सफल होगे। लक्ष्य का मार्ग जानते हुऐ भी, हम मार्ग की कठिनाइयों से घबड़ाते हैं। ऐसे भी कम लोग नहीं हैं—और इनमें से अधिकांश बड़े शक्तिशाली लोग हैं जो ज़ोरदार शब्दों में हमारे इस लक्ष्य को अस्वीकार कर रहे हैं। पर, लक्ष्य की--पूर्त्ति के लिये हमारे महान राज्य को विनम्र होना होगा, धनी वर्ग को त्याग करना पड़ेगा। बिना न्यायपूर्ण हुऐ हम स्वतंत्र नहीं रह सकते, और न्याय का मूल्य है समानता। ऐसे अनुमान के लिये कोई आन्तरिक कारण नहीं है कि जिनके पास शक्ति है तथा जो उसका उपयोग कर रहे हैं, वे जिन आदर्शों से सहमत नहीं हैं, उनके लिये अपनी शक्ति को छोड़ देंगे। यदि वे अपने अधिकार को कायम रखने के लिये लड़ते हैं तो उनके लिये सफलता की ओर भी सम्भावना तो है ही। यदि वे जीत जाते हैं, जैसा कि इटली के (मुसोलिनी काल के) इतिहास

से प्रकट होता है तो राज्य के भीतर अत्याचार तथा बाहर अराजकता के पूरे लक्षण प्रकट हो जाते हैं, यदि वे हार जाते हैं, जो कि रूस के इतिहास से स्पष्ट है, तब भी कोई अन्य लक्षण नहीं दिखाई पड़ते। शान्ति की विजय शान्ति के प्रति—तीव्र तथा व्यापक इच्छा पर निर्भर करती है। इस इच्छा की तीव्रता तथा व्यापकता के लिये आवश्यक है कि शान्ति से उत्पन्न होने वाले फल के सम्बंध में सबका स्वार्थ और हित भी एक ही हो। न्याय-कार्य के लिये बलिदान हो जाने की भावना मानव-स्वभाव का अङ्ग नहीं बन पाई है। अपना विचार भिन्न होने पर, हमने दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता नहीं सीखा है। हमारे आज के झगड़े पुरानी साम्प्रदायिक लड़ाइयों की तरह ही कटु होते हैं केवल उस साम्प्रदायिकता का तत्व बदल गया है।

हमारे ऐसी पीढ़ी को, जिसका पैर खाई के बहुत निकट है, अपने भविष्य के विषय में आशावादी होने का अधिकार नहीं है। उसे सन्मार्ग मालूम होने से ही यह साबित नहीं होता कि वह सन्मार्ग पर चलेगी ही। देखने में यह चीज़ चाहे कितनी विपरीत मालूम पड़े-पर इसी में हमारी सबसे बड़ी आशा सन्निहत है। हमारे चारों ओर के खतरे इतने स्पष्ट और शीघ्र हैं कि हम नयी बातें ढूँढने और उनका प्रयोग करने के लिये बाध्य हैं। बड़े दुःखान्त अनुभवों से हमने आधुनिक सभ्य स्वभाव की दुर्बलता को पहचाना है। स्यात् हमने यह भी जान लिया है कि इनकी शक्ति की परीक्षा पुनः लेने में क्या भय है। केवल इतना ही ज्ञान हो जाने से कि यदि कोई व्यापक संघर्ष फिर हुआ तो सभ्यता की प्रसादि अतीत की स्मृति मात्र भी न रह जायगी, हमारे चित्त की प्रवृत्ति में परिवर्त्तन हो जायगा और हम सत्य तथा न्याय को कोरा, खोखला आदर्श मात्र ही न समझेंगे। अन्ततः, सद् जीवन के प्रति सबका समान स्वार्थ हो सकता है, और उसकी प्राप्ति में जो कठिनाई हैं, उसी के द्वारा उसके सौन्दर्य की अनुभूति हो सकती है।

